इस्लाम में पति-पत्नी के अधिकार

सय्यद अबुल आला मौदूदी

अनुवादक

डॉ कौसर यज़दानी नदवी

विषय-सूची

क्या?	कहां?
१. **अपनी बात**	६-८
२. **भूमिका**	९-१६
३. **पारिवारिक क़ानून के उद्देश्य**	१७-२६
चरित्र और पाकदामनी की हिफ़ाज़त	१७
प्रेम और रहमत	२०
ग़ैर-मुस्लिमों से दाम्पत्य सम्बन्ध रखने के दोष	२४
कुफ़्व (समस्तरीयता) की समस्या	२६
४. **क़ानून की बुनियाद**	२८-७०
पहली बुनियाद	२८
मर्द के कर्त्तव्य	२९
महर	२८
नफ़क़ा	३०
ज़ुल्म से बचाव	३२
१. ईला	३२
२. ज़िरार और तअ़द्दी	३६
३. बीवियों में न्याय न करना	३८
मर्द के हक़	३९
१. अनुपस्थिति में हिफ़ाज़त करने वाली	४०
२. शौहर का आज्ञापालन	४०

क्या?	कहां?

मर्द के अधिकार	४१
१. उपदेश, चेतावनी और सज़ा	४२
२. तलाक़	४४
दूसरी बुनियाद	४६
तलाक़ और उसकी शर्तें	४७
खुलअ़	५३
खुलअ़ के बारे में शुरू के दौर की नज़ीरें	५६
खुलअ़ के हुक्म	६०
खुलअ़ के बारे में एक बुनियादी ग़लती	६५
खुलअ़ के बारे में क़ाज़ी के अधिकार	६७
शरीअत के फ़ैसला	७१
५. शरीअत के फ़ैसले के बारे में कुछ बुनियादी बातें	**७३-७४**
फ़ैसले के लिए पहली शर्त	७३
फ़ैसले के लिए इज्तिहाद की ज़रूरत	७४
६. भारत में शरई अदालतों के न होने की हानियां	**७५-८७**
सुधार के रास्ते में पहला क़दम	७८
क़ानूनों के एक नये संग्रह की ज़रूरत	७९
७. सैद्धान्तिक हिदायतें	**८८-९५**
८. छोटे-छोटे मसअले	**९७-१३७**
दम्पति में से किसी एक का धर्म-विमुख हो जाना	९७
बालिग़ को चुनने के अधिकार	१००
वली कितना अधिकारी	१०२
बालिग़ के चुनने की शर्तें	१०७
महर	१०८
नफ़क़ा (गुज़ारा-भत्ता)	१११

क्या? **कहां?**

अनुचित अत्याचार ११४
पंच मानना ११५
ऐबों की हालत में निकाह ख़त्म करने का अधिकार ११६
इनीऩ और मज्बूब वग़ैरह ११९
जुनून (पागलपन) १२३
लापता होने पर १२६
लापता के बारे में मालिकी मत के हुक्म १३०
लापता की वापसी की शक्ल में हुक्म १३३
लिआन १३५
एक ही वक़्त में तीन तलाक़ें देकर औरत को जुदा करना १३८
९. आख़िरी बात १४०-१४२
१०. परिशिष्ट १: एक बड़ा अहम इस्तफ़ता १४३-१५४
११. परिशिष्ट २: तलाक़ और अलगाव के यूरोप के क़ानून १५६-१७४

बिस्मिल्लाहिर्रह्मानिर्रहीम
(अल्लाह रहमान, रहीम के नाम से)

अपनी बात

१९३३-३४ की बात है। हैदराबाद, भोपाल और ब्रिटिश भारत में यह समस्या धूम-धाम से उठ खड़ी हुई थी कि मुसलमानों के पारिवारिक मामलों में जो ख़राबियां जारी क़ानून की त्रुटियों की वजह से पैदा हो रही हैं, उनको दूर करने और इस्लामी शरीअत के हुक्मों को सही तौर पर लागू करने के लिए कोई फलदायक प्रयास होना चाहिए। चुनांचे इस सिलसिले में क़ानून के बहुत से मसविदे भारत के विभिन्न भागों में तर्तीब दिये गये और कई साल तक उनकी प्रतिध्वनि सुनी जाती रही।

उस ज़माने में मुझे महसूस हुआ कि इस समस्या के बहुत-से पहलू और बड़े अहम पहलू ऐसे हैं जिन पर वैसा ध्यान नहीं दिया जा रहा है, जैसा कि हक़ है। चुनांचे मैंने सन् १९३५ ई० (तद० १३५४ हि०) में 'हुक़ूक़ुज़्ज़ौजैन'[1] शीर्षक के अन्तर्गत 'तर्जुमानुल क़ुरआन' में लेख-माला प्रकाशित की और उसमें दाम्पत्य जीवन के इस्लामी क़ानूनों की भावना और उसके सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करने के साथ उन हुक्मों की व्याख्या की, जो पति-पत्नी के मामलों के सुधार के लिए हमको क़ुरआन व हदीस में मिलते हैं और कुछ ऐसी तज्वीज़ें पेश कीं, जिनसे मुसलमानों की वर्तमान क़ानूनी कठिनाइयां सही तरीक़े से हल हो सकती हैं।

यद्यपि यह लेख-माला मुस्लिम उलेमा के ध्यान को आकर्षित

---

१. इस्लाम में पति-पत्नी के अधिकार के उर्दू संस्करण का नाम 'हुक़ूक़ुज़्ज़ौजैन' है। —अनुवादक

करने के लिए तैयार की गयी थी, पर इस में बहुत-सी ऐसी वार्त्ताएं भी आ गयी थीं, जिनका अध्ययन सामान्य पाठकों के लिए भी उपयोगी हो सकता है, मुख्य रूप से जिन लोगों ने मेरी किताब 'पर्दा' पढ़ी है, वे ख़ुद-ब-ख़ुद इसकी ज़रूरत महसूस करते थे कि दाम्पत्य-संबंधों को बेहतर बनाने के लिए इस्लाम ने जो क़ानून मुक़र्रर किये हैं, उनकी जानकारी प्राप्त करें, ताकि इस दीन (धर्म) की पूरी सामाजिक व्यवस्था उनकी समझ में आ सके। इसी ज़रूरत को महसूस करके अब इस लेख-माला को कुछ ज़रूरी इज़ाफ़ों के साथ पुस्तक-रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

—अबुल आ़ला

५ मार्च, १९४३ ई०, तद० २५ सफ़र, १३६२ हि०

प्रकाशक की ओर से दो शब्द

प्रस्तुत संस्करण से पूर्व यह पुस्तक 'दम्पत्ति-अधिकार' के नाम से प्रकाशित की जाती रही है। अब इस पुस्तक को 'इस्लाम में पति-पत्नी के अधिकार' के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है।

इस संस्करण में भाषा को भी सरल बनाने की कोशिश की गयी है। आशा है हमारे पाठक इसे पसन्द करेंगे।

—प्रकाशक

उर्दू के चौथे एडीशन का प्राक्कथन

सत्तरह साल हुए यह किताब धारावाहिक लेखों के रूप में प्रकाशित की गयी थी और दस साल से यह पुस्तक-रूप में छप रही है। यद्यपि पहले दिन ही इस में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि हनफ़ी फ़िक़्ह के दाम्पत्य विधानों में जो सुधार इसके भीतर प्रस्तावित किये गये हैं उनकी हैसियत फ़त्वों की नहीं है, बल्कि तज्वीज़ों की है, जो उलेमा के सामने इस उद्देश्य से पेश किये जा रहे हैं कि अगर वे इनको शरई और सही दलीलों की दृष्टि से ठीक पाएं, तो उनके मुताबिक़ फ़त्वों में तब्दीली कर दें। इसके बावजूद इसके छपने के पहले दिन से आज तक न तो इसकी तज्वीज़ों पर संजीदगी से ग़ौर किया गया और न किसी ने इस पर समीक्षा का कष्ट ही सहन किया। हां,इसे मेरे ख़िलाफ़ फ़ित्ना पैदा करने का ज़रिया पहले भी बनाया गया था और अब भी बनाया जा रहा है।

अब पुनरीक्षण के अवसर पर बहुत-से आंशिक सुधारों के साथ मैंने उनकी दो वार्ताओं को अपेक्षतः अधिक स्पष्ट कर दिया है, जिनकी दलीलें पहले भरपूर तरीक़े से बयान नहीं की गयी थीं। एक ईला की वार्त्ता, दूसरे विलायते इज्बार की वार्ता। बाक़ी किसी चीज़ में विरोधियों के कटाक्षों के बावजूद मैंने किसी तब्दीली की ज़रूरत महसूस नहीं की।

—अबुल आला
११ जून १९५२ ई०, तद० १७ रमज़ान १३७१ हि०

बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम
अल्लाह रहमान, रहीम के नाम से

भूमिका

हर समाज की संस्कृति को सुगठित करने के लिए दो चीज़ों की ज़रूरत पड़ती है–

१. एक ऐसा व्यापक विधान, जो उसकी विशेष संस्कृति-पद्धति के स्वभाव की रियायत करते हुए बनाया गया हो।

२. दूसरी एक ऐसी निर्देशक व्यवस्था, जो इस विधान को ठीक-ठीक उसी भावना के साथ लागू करने वाली हो, जिसमें वह बनाया गया था।

दुर्भाग्यवश भारतीय मुसलमान इस वक़्त इन दोनों चीज़ों से वंचित हैं। बेशक इनके पास किताबों में लिखा हुआ एक विधान ज़रूर मौजूद है, जो इस्लामी संस्कृति व सभ्यता के स्वभाव से पूरी-पूरी अनुकूलता रखता है और संस्कृति व सभ्यता के तमाम पहलुओं पर हावी है। पर यह विधान अब व्यवहारतः निरस्त हो चुका है और उसकी जगह एक ऐसा क़ानून उसके सांस्कृतिक मामलों पर शासन कर रहा है, जो संस्कृति व रहन-सहन के ज़्यादा-से-ज़्यादा मामलों में बिल्कुल ही ग़ैर-इस्लामी है और अगर किसी हद तक इस्लामी है भी तो अधूरा। मुसलमान इस वक़्त जिस शासन-व्यवस्था के अधीन हैं, उसने अमलन उनके सांस्कृतिक जीवन को दो विभागों में बांट दिया है–

१. एक विभाग वह है, जिसमें उसने भारत की दूसरी क़ौमों के साथ-साथ मुसलमानों पर भी ऐसे क़ानून लागू कर दिये हैं, जो इस्लामी संस्कृति के स्वभाव से किसी प्रकार की अनुकूलता नहीं रखते।

२. दूसरा विभाग वह है, जिसमें उसने उसूलन मुसलमानों के इस हक़ को मान लिया है कि उनपर इस्लामी क़ानून लागू किया जाए, पर अमलन इस विभाग में भी इस्लामी शरीअत को सही तरीक़े पर लागू नहीं किया जाता। 'मुहम्मडन लॉ' के नाम से जिस क़ानून को इस विभाग में लागू किया गया है, वह अपने स्वरूप और भावना, दोनों में असल इस्लामी शरीअत से बहुत कुछ भिन्न है और इसके लागू करने को सही इस्लामी शरीअत को लागू करना नहीं कहा जा सकता।

इस अफ़सोसनाक हालत ने मुसलमानों के सांस्कृतिक जीवन को नुक़सान पहुंचाया है। उसमें सबसे ज़्यादा अहम नुक़सान यह है कि उसने हमारे कम-से-कम पचहत्तर प्रति शत घरों को दोज़ख़ का नमूना बना दिया है और हमारी आबादी के एक बड़े हिस्से की ज़िंदगियां ज़हरीली, बल्कि तबाह व बर्बाद कर दी हैं। औरत और मर्द का दाम्पत्य संबंध वास्तव में इंसानी संस्कृति का मूलाधार है और कोई व्यक्ति, चाहे वह औरत हो या मर्द, इस क़ानून की सीमा से परे नहीं हो सकता, जो इस ताल्लुक़ को सुदृढ़ करने के लिए बनाया गया हो, क्योंकि बचपन से लेकर बुढ़ापे तक, उम्र के हर हिस्से में यह क़ानून किसी न किसी हैसियत से इंसान की ज़िंदगी पर अपना असर ज़रूर डालता है। अगर वह बच्चा है, तो मां और बाप के ताल्लुक़ात उसके प्रशिक्षण पर प्रभाव डालेंगे; अगर जवान है, तो खुद उसको एक जीवन-साथी से वास्ता पड़ेगा; अगर बूढ़ा है, तो उसकी औलाद दाम्पत्य सम्बन्धों के बंधनों में बंधेगी और उसके मन और आत्मा की शांति और ज़िंदगी

का चैन बड़ी हद तक बहू-बेटे और बेटी-दामाद के सम्बंधों की बेहतरी पर निर्भर होगा। तात्पर्य यह कि दाम्पत्य विधान एक ऐसा क़ानून है जो संस्कृति-क़ानूनों में सबसे ज़्यादा अहम और सबसे ज़्यादा व्यापक प्रभाव डालने वाला है।

इस्लाम में इस क़ानून की सच्ची अहमियत को ध्यान में रख कर उसकी तर्तीब बड़े सही नियमों पर की गयी थी और मुसलमानों को पारिवारिक मामलों में अपने दीन (धर्म) से एक सुन्दर, व्यापक और पूर्ण क़ानून मिला था, जिसको दुनिया के पारिवारिक क़ानूनों में हर हैसियत से बेहतरीन कहा जा सकता है, पर दुर्भाग्य से यह क़ानून भी 'मुहम्मडन लॉ' की लपेट में आ गया और इस बुरी तरह विकृत हुआ कि उसमें और असल इस्लामी पारिवारिक क़ानून में एक बहुत ही दूर की अनुरूपता बाक़ी रह गयी। अब इस्लामी शरीअत के नाम से मुसलमानों के पारिवारिक मामलों में जो क़ानून जारी है, वह न सुन्दर है, न व्यापक है, न पूर्ण। इसकी त्रुटियों ने मुसलमानों के सांस्कृतिक जीवन पर इतना बुरा असर डाला है कि शायद किसी दूसरे क़ानून ने नहीं डाला। मुश्किल ही से भारत में कोई ऐसा भाग्यशाली परिवार मिल सकेगा, जिसमें इस त्रुटिपूर्ण क़ानून की वजह से किसी की ज़िंदगी तबाह न हुई हो।

ज़िंदगियों का तबाह होना तो फिर भी एक तुच्छ मामला है, इससे ज़्यादा बड़ी मुसीबत यह है कि इस कानून की ख़राबी ने अधिकतर मुसलमानों की इ़ज़्ज़त व आबरू को तबाह किया, उनके ईमान और चरित्र को बर्बाद कर डाला और जो घर उनके धर्म और उनकी सभ्यता के सबसे सुरक्षित क़िले थे, उनमें भी नग्नता और विधर्मिता के तूफ़ान को पहुंचा दिया।

क़ानून और उसको लागू करने वाली मशीन की त्रुटियों से जो

ख़राबियां पैदा हुईं, उनसे और अधिक ख़राबियां दो वजहों से बढ़ीं—

१. एक दीनी तालीम व तर्बियत (धार्मिक शिक्षा-दीक्षा) का अभाव, जिसके कारण मुसलमान इस्लाम के पारिवारिक क़ानून से इतने बेगाना हो गये कि आज अच्छे से अच्छे पढ़े-लिखे लोग भी इस क़ानून के आम मस्अलों को नहीं जानते।[1] विस्तार में जानना तो बड़ी बात, उसकी बुनियादी बातों तक को जानने और समझने वाले मुसलमान बहुत कम मिलेंगे, यहां तक कि वे लोग भी जो अदालत की कुर्सियों पर बैठ कर उनके निकाह व तलाक़ के मामलों का फ़ैसला करते हैं, इस्लामी पारिवारिक क़ानून की बुनियादों तक को नहीं जानते। इस आम अज्ञानता ने मुसलमानों को इस क़ाबिल भी न रखा कि वे अपने आप दाम्पत्य संबंधों में इस्लामी क़ानून का ठीक-ठीक पालन कर सकें।

२. रही दूसरी वजह, तो वह ग़ैर इस्लामी संस्कृति का असर है, जिसकी वजह से मुसलमानों के संबंधों में न सिर्फ़ बहुत से रस्म व रिवाज़ और अंधविश्वास दाख़िल हो गये हैं, जो इस्लामी पारिवारिक

---

1. मिसाल के तौर पर जिहालत (अज्ञानता) ही का करिश्मा है कि मुसलमान आम तौर से तलाक़ देने के सिर्फ़ एक ही तरीक़े को जानते हैं और वह यह है कि एक वक़्त में तीन तलाक़ें दे डाली जाएं, जहां तक कि तलाक़ की दस्तावेज़ लिखने वाले भी जब लिखते हैं तो तीन ही तलाक़ लिखते हैं, हालांकि इस्लाम में यह बिद्अत और बड़ा गुनाह है और इस से बड़ी क़ानूनी पेचीदगियां पैदा हो जाती हैं। अगर लोगों को मालूम होता कि एक तलाक़ देने से वह मक़्सद भी हासिल हो जाता है, जिसके लिए तीन तलाक़ें दी जाती हैं और इस शक्ल में इद्दत के भीतर रुजूअ करने और इद्दत गुज़र जाने पर भी निकाह कर लेने का मौक़ा दोबारा बाक़ी रहता है, तो कितने ही घर तबाह होने से और कितने ही अल्लाह के बन्दे झूठ और हीलाबाज़ियों और दूसरी नाफ़रमानियों से बच जाते।

क़ानून की बुनियादों और उसकी भावना के विरुद्ध हैं, बल्कि सिरे से दाम्पत्य का इस्लामी विचार ही उनकी एक बड़ी अक्सरियत के मस्तिष्क से निकल गया है। कहीं हिन्दू-विचार छा गया है और उसका असर यह है कि पत्नी को दासी और पति को आक़ा, बल्कि देवता समझा जाता है। विवाह का बंधन सैद्धान्तिक रूप से न सही, व्यावहारिक रूप से अकाट्य है। तलाक़ और खुलअ् इतने दूषित हो गये हैं कि जहां उनकी ज़रूरत है, वहां भी उनसे केवल इस कारण बचा जाता है कि कहीं नाक न कट जाए, भले ही छिप कर वह सब कुछ किया जाए, जो वास्तव में तलाक़ और खुलअ् से ज़्यादा घिनौना है। तलाक़ को रोकने के लिए महर की मात्रा इतनी ज़्यादा बढ़ा दी गयी हैं कि पति कभी तलाक़ देने की हिम्मत ही न कर सके और नफ़रत की शक्ल में औरत को लटकाये रखने पर मजबूर हो जाए। 'शौहर परस्ती' औरत की शान और नैतिक कर्त्तव्यों में दाख़िल हो गयी है। सख़्त-से-सख़्त हालात में भी वह मात्र समाज की लानत-मलामत के डर से तलाक़ या खुलअ् का नाम ज़ुबान पर नहीं ला सकती, यहां तक कि अगर पति मर जाए, तब भी उसका नैतिक कर्त्तव्य यह हो गया है कि हिन्दू औरतों की तरह उसके नाम पर बैठी रहे, क्योंकि विधवा का दूसरा विवाह होना, न केवल उसके लिए, बल्कि उसके सारे ख़ानदान की बदनामी की वजह है।

दूसरी ओर जो नयी नस्लें अंग्रेज़ी सभ्यता से प्रभावित हुई हैं, उनका हाल यह है कि वे 'ल-हुन-न मिस्लुल्लज़ी अलैहिन-न बिल मअ्रूफ़' (औरतों को भी सद्व्यहार का वैसा ही हक़ है, जैसा कि मर्दों को उनपर हासिल है) तो बड़े ज़ोर से कहते हैं, पर 'लिर्रिजालि अलैहिन-न द-र-ज:' (मर्दों को औरतों पर एक दर्जा ज़्यादा हासिल है) पर पहुंच कर यकायक उनकी आवाज़ दब जाती है और जब 'अर्रिजालु क़व्वामू-न अलन्निसाइ' (मर्द औरतों के सिरधरे क़व्वाम

हैं) का वाक्य सामने आ जाता है, तो उनका बस नहीं चलता कि किस तरह इस आयत को क़ुरआन से निकाल दें। अजीब-अजीब तरीक़े से इसका स्पष्टीकरण करते हैं और उनके स्पष्टीकरण का अंदाज़ कह देता है कि वे अपने दिल में इस बात से बहुत शर्मिंदा हैं कि उनके धर्म के पवित्र ग्रन्थ में यह आयत पायी जाती है। इसका कारण केवल यह है कि अंग्रेज़ी सभ्यता ने औरत और मर्द की बराबरी का जो सूर फूंका है, इससे वे आतंकित हो गये हैं और उनके दिमाग़ों में उन ठोस और सुदृढ़ और बौद्धिक सिद्धान्तों को समझने की क्षमता बाक़ी नहीं रही है, जिन पर इस्लाम ने अपनी सामाजिक व्यवस्था को स्थापित किया है।

इन विभिन्न कारणों ने मिलजुल कर मुसलमानों के पारिवारिक जीवन को उतना ही बदतर कर दिया है, जितना ही वह किसी ज़माने में बेहतर थी। अज्ञानता और परायी संस्कृतियों के प्रभाव से उनके पारिवारिक मामलों में जो पेचीदगियां पैदा हो गयी हैं, उनको सुलझाने से वर्तमान क़ानून और उस क़ानून को लागू करने वाली मशीन बिल्कुल ही विवश है, बल्कि उसके विचारों ने इन पेचीदगियों पर बहुत-सी उलझनों को और बढ़ा दिया है।

न जानने की वजह से मुसलमानों का एक गिरोह यह समझता है कि इन तमाम ख़राबियों की वजह इस्लामी क़ानून की त्रुटि है। इसी लिए एक नये क़ानून के बनाने पर ज़ोर दिया जाता है। हालांकि वास्तव में इस्लाम में ऐसा पूर्ण पारिवारिक क़ानून मौजूद है, जिसमें दम्पति के लिए न्याय के साथ स्पष्ट अधिकार निश्चित कर दिये गये हैं। इन अधिकारों की रक्षा का और ज़ुल्म की शक्ल में (चाहे वह औरत की तरफ़ से हो या मर्द की तरफ़ से) न्याय का पूरा इंतिज़ाम किया गया है और कोई ऐसी पेचीदगी नहीं छोड़ी गयी है, जिसको इंसाफ़ के साथ हल न कर दिया गया हो। इसीलिए मुसलमानों को नये क़ानून की कदापि कोई ज़रूरत नहीं है।

असल ज़रूरत जिस चीज़ की है, वह यह है कि इस्लाम का पारिवारिक क़ानून अपनी सही शक्ल में पेश किया जाए और उसको सही तरीक़े से लागू करने की कोशिश की जाए। यह काम कोई बहुत आसान नहीं है। सबसे पहले उलेमा का फ़र्ज़ है कि अन्धानुकरण को छोड़ कर वर्तमान समय के हालात और ज़रूरतों का ध्यान रखते हुए इस्लाम के पारिवारिक क़ानून को इस तरह तर्तीब दें कि मुसलमानों की पारिवारिक समस्याओं की वर्तमान पेचीदगियों को पूरी तरह हल किया जा सके। इसके बाद आम मुसलमानों को इसकी शिक्षा दी जानी चाहिए, ताकि वे अपनी सामाजिक व्यवस्था को उन अज्ञानतापूर्ण रस्मों और विचारों से पाक करें, जिनको उन्होंने ग़ैर-इस्लामी संस्कृति से लिया है और इस्लामी क़ानून के उसूल और स्प्रिट को समझ कर उसके अनुसार अपने मामले अंजाम दें। फिर एक ऐसी न्याय-व्यवस्था चाहिए, जो ख़ुद उस क़ानून पर ईमान रखती हो और जिस के जजों को ज्ञानात्मक और नैतिक हैसियत से वह स्थान दिया गया हो, जो इस क़ानून को लागू करने के लिए अभीष्ट है, ताकि वे इसे किसी ग़ैर-इस्लामी क़ानून की स्प्रिट में नहीं, बल्कि उसकी अपनी स्प्रिट में लागू करें।

यह लेख इसी ज़रूरत को नज़रों में रख कर लिखा गया है। हम आने वाले पन्नों में इस्लामी पारिवारिक क़ानूनों की एक पूरी रूपरेखा देना चाहते हैं, जिसमें इस क़ानून के उद्देश्य, नियम, सिद्धान्त और आदेश सब चीज़ें अपने-अपने मौक़े पर बयान की जाएंगी। ज़रूरत के मुताबिक़ हम स्पष्टीकरण के लिए नबी करीम सल्ल० और सहाबा किराम रज़ि० के फ़ैसले की नज़ीरें और बुज़ुर्ग इमामों की रायों को भी नक़ल करेंगे, ताकि इनसे आंशिक मसूअलों को हल करने में आसानी हो। आख़िर में कुछ ऐसे प्रस्ताव रखे जाएंगे, जिनसे इस्लामी शरीअत के नियमों के अनुसार मुसलमानों के पारिवारिक मामलों की वर्तमान

पारिवारिक क़ानून के उद्देश्य

क़ानून के विस्तार में जाने से पहले क़ानून के उद्देश्यों को समझ लेना ज़रूरी है, क्योंकि क़ानून में सबसे अहम चीज़ उसका उद्देश्य है। उद्देश्य ही को पूरा करने के लिए सिद्धान्त बनाये जाते हैं और सिद्धान्तों के अन्तर्गत आदेश दिये जाते हैं। अगर कोई व्यक्ति उद्देश्य को समझे बिना आदेश देगा, तो बहुत संभव है कि किसी आंशिक समस्या में वह ऐसा आदेश दे दे, जिससे क़ानून का मूल उद्देश्य ही समाप्त हो जाए। इसी तरह जो व्यक्ति क़ानून के उद्देश्य को न जानता होगा, वह क़ानून की सही भावना के अनुसार उसका पालन भी न कर सकेगा। इसलिए हम पहले उन उद्देश्यों की व्याख्या करेंगे, जिनके लिए इस्लाम में पारिवारिक क़ानून तर्तीब दिया गया है।

चरित्र और पाकदामनी की हिफ़ाज़त

इस्लामी पारिवारिक क़ानून का पहला उद्देश्य चरित्र की रक्षा है, वह ज़िना को हराम क़रार देता है और मानव-जाति के दोनों अंशों को मजबूर करता है कि अपने स्वाभाविक ताल्लुक़ को एक ऐसे विधान का पाबंद बना दें, जो चरित्र को नग्नता और बेहयाई से और संस्कृति को बिगाड़ से सुरक्षित रखने वाला हो। इसीलिए क़ुरआन मजीद में निकाह को 'एह्सान' शब्द से याद किया गया है। 'हिस्न' क़िले को कहते हैं और 'एह्सान' का अर्थ है क़िलाबन्दी। जो मर्द निकाह करता है, वह 'मुह्सिन' है, मानो वह एक क़िला बनाता है और जिस औरत से निकाह किया जाता है वह 'मुह्सना' है, यानी वह उस किले की

हिफ़ाज़त में आ गयी है, जो निकाह की शक्ल में उसके निज और उसके चरित्र की हिफ़ाज़त के लिए बनाया गया है। इससे साफ़ लगता है कि इस्लाम में निकाह का पहला उद्देश्य चरित्र और पाकदामनी की सुरक्षा और विवाह के क़ानून का पहला काम इस क़िले को सुदृढ़ करना है, जो निकाह की शक्ल में उस मूल्यवान चीज़ की सुरक्षा के लिए बनाया गया है। क़ुरआन मजीद कहता है–

> "(ये औरतें जो तुम पर हराम की गयी हैं) उनके सिवा बाक़ी सब औरतें तुम पर हलाल कर दी गयीं, बशर्ते कि वासना-तृप्ति के लिए नहीं, बल्कि विवाह-बंधन में लाने के लिए तुम अपने मालों के बदले में उनको हासिल करना चाहो।" -अन-निसा, आयत : २४

फिर औरतों के लिए कहता है–

> "पस तुम उनके सिरधरों की इजाज़त से उनके साथ निकाह करो और उचित ढंग से उनके महर अदा करो, ताकि वे मुह्सना बनें, न कि एलानिया या चोरी-छिपे बदकारी करने वालियां।" –अन-निसा : २५

दूसरी जगह कहा गया है–

> "आज तुम्हारे लिए तमाम पाक चीज़ें हलाल की गयीं और उन लोगों का खाना जिनको किताब दी गयी तुम्हारे लिए हलाल है और तुम्हारा खाना हलाल है उनके लिए और पाक दामन औरतें, चाहे वे ईमान वाली हों या किताब वाली, बशर्ते कि तुम उनके महर अदा कर दो, विवाह-बंधन में लाने वाले बनो, न कि एलानिया या चोरी-छिपे नाजायज़ ताल्लुक़ात पैदा करने वाले"। –अल-माइदा : ५

इन आयतों के शब्दों और अर्थों पर विचार करने से मालूम होता है कि इस्लाम की निगाह में सबसे ज़्यादा अहमियत इस चीज़ की है कि मर्द और औरत के दाम्पत्य संबंध में 'एह्सान' अर्थात् चरित्र और पाकदामनी की पूरी-पूरी रक्षा हो। यह ऐसा उद्देश्य है, जिसके लिए हर दूसरी ग़रज़ को न्योछावर किया जा सकता है, पर किसी दूसरी ग़रज़ के लिए इसको न्योछावर नहीं किया जा सकता।

पति-पत्नी को विवाह के बंधन में इसीलिए बांधा जाता है कि वे अल्लाह की निर्धारित सीमाओं में रह कर अपनी नैसर्गिक इच्छाएं पूरी करें, लेकिन अगर विवाह के किसी बंधन में ऐसे हालात पैदा हो जाएं, जिनसे अल्लाह की सीमाओं के टूटने का भय हो, तो बजाए इसके कि विवाह के ज़ाहिरी बंधन के बाक़ी रखने के लिए अल्लाह की सीमाओं को क़ुर्बान किया जाए, यह कहीं बेहतर है कि अल्लाह की हदों पर विवाह के ऐसे बंधन को न्योछावर कर दिया जाए। इसी लिए ईला करने वालों को हुक्म दिया गया कि चार महीने से ज़्यादा अपने वायदे पर जमे न रहें और अगर वे चार महीने की मुद्दत गुज़रने पर भी रुजू न करें, तो उन्हें ऐसी औरत को निकाह के बंधन में बांधे रखने का कोई हक़ नहीं है, जिससे वे हम-बिस्तर नहीं होना चाहते, क्योंकि इसका अनिवार्य फल यह होगा कि औरत अपनी नैसर्गिक कामनाओं को पूरा करने के लिए अल्लाह की सीमाओं को तोड़ने पर मजबूर होगी, जिसे अल्लाह का क़ानून किसी हाल में भी गवारा नहीं कर सकता।

इसी तरह जो लोग एक से ज़्यादा बीवियां रखते हैं, उनको सख़्ती के साथ ताकीद की गयी है कि 'एक औरत की ओर बिल्कुल इस तरह न झुक पड़ो कि दूसरी औरत मानो लटक जाए।' इस हुक्म का मक़्सद भी यही है कि कोई औरत ऐसी हालत में फंसने न पाये, जिससे वह अल्लाह की सीमाओं को तोड़ने पर मजबूर हो। ऐसी हालत में विवाह का ज़ाहिरी बंधन बाक़ी रखने से बेहतर है कि उसको तोड़ दिया जाए

और औरत किसी दूसरे व्यक्ति से विवाह करने के लिए आज़ाद हो जाए। फिर औरत को खुलअ् का भी हक़ इसी मक़सद के तहत दिया गया है।

एक औरत का, किसी ऐसे व्यक्ति के पास रहना, जिससे वह ख़ुश न हो या जिससे उसके मन को सन्तोष न प्राप्त होता हो, उसको ऐसे हालात में डाल देता है, जिसमें अल्लाह की हदों के टूट जाने का डर है। इसलिए ऐसी औरत को हक़ दिया गया है कि वह पति को उसका माल, जो महर की शक्ल में उसे मिला था, या उससे कम ज़्यादा देकर विवाह के बंधन से छुटकारा प्राप्त कर ले। इस्लामी क़ानून की इन धाराओं को आगे चल कर सविस्तार बयान किया जाएगा, पर यहां इन मिसालों के बयान करने से इस सच्चाई को बताना अभिप्रेत है कि इस्लामी क़ानून ने चरित्र और पाकदामनी की रक्षा को सब चीज़ों से ज़्यादा महत्व दिया है। यद्यपि वह विवाह के बंधन को यथासंभव हर तरीक़े से मज़बूत करने की कोशिश करता है, लेकिन जहां इस बंधन के बाक़ी रहने से चरित्र और पाकदामनी को चोट पहुंचने का डर हो, वहां इस मूल्यवान पूंजी के लिए विवाह की गिरह खोल देना ज़रूरी समझता है। इस्लामी क़ानून की जो धाराएं आगे बयान की जाएंगी, उनको समझने और उनको क़ानून की वास्तविक भावना के अनुसार लागू करने के लिए इस बात को ज़ेहन में बिठा लेना ज़रूरी है।

प्रेम और रहमत

दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य यह है कि मानव-जाति के दोनों भागों के बीच दाम्पत्य संबंध प्रेम और रहमत की बुनियाद पर हो, ताकि विवाह कर के संस्कृति व सभ्यता के जो उद्देश्य इससे जुड़े हुए हैं, उनको वे मिल-जुल कर अच्छे ढंग से पूरा कर सकें और उनको अपने घरेलू जीवन में वह आराम, ख़ुशी और सुकून मिल सके, जिसकी

प्राप्ति उन्हें संस्कृति के श्रेष्ठतम उद्देश्य पूरा करने की ताक़त जुटाने के लिए ज़रूरी है।

क़ुरआन मजीद में इस उद्देश्य को जिस ढंग से बयान किया गया है, उस पर विचार करने से पता चलता है कि इस्लाम की निगाह में दाम्पत्य का विचार ही प्रेम और रहमत है और दम्पति बनाये ही इस लिए गये हैं कि वे एक-दूसरे के पास सुकून हासिल करें। अतएव कहा गया है—

"और उसकी निशानियों में से एक यह है कि उसने तुम्हारे लिए खुद तुम्हीं में से जोड़े पैदा किये हैं, ताकि उनके पास सुकून हासिल करो और उसने तुम्हारे बीच मुहब्बत और रहमत पैदा की है।"

—अर-रूम, २१

और दूसरी जगह फ़रमाया है—

"वही है जिसने तुम को एक जिस्म से पैदा किया और इसके लिए खुद उसी की जिंस से एक जोड़ा बनाया, ताकि वह उसके पास सूकून हासिल करे।" —अल-आराफ, १८९

फिर एक दूसरी शैली में दाम्पत्य के इस विचार को यों पेश करता है—

"वे तुम्हारे लिए लिबास हैं और तुम उनके लिए लिबास।"

—अल-बक़र, १८७

यहां दम्पति को एक दूसरे का लिबास कहा है। लिबास वह चीज़ है,जो इंसान के शरीर से सटी रहती है। उसकी परदापोशी करती है और उसको बाहरी माहौल के ख़राब असर से बचाती है। इस लिबास की उपमा को दम्पति के लिए इस्तेमाल करने से यह बताना अभिप्रेत है कि इनके बीच विवाह का संबंध मानवीय दृष्टिकोण से वैसा ही होना

चाहिए, जैसा शरीर और कपड़े के बीच होता है। उनके दिल और उनकी रूहें एक-दूसरे से जुड़ी हों, वे एक दूसरे की परदापोशी करें और एक दूसरे को उन प्रभावों से बचाएं, जो उनकी इज़्ज़त और उनके चरित्र पर आंच लाने वाले हों। यही तक़ाज़ा है प्रेम और रहमत का और इस्लामी दृष्टिकोण से यह दाम्पत्य सम्बन्ध की मूल आत्मा है। अगर किसी दाम्पत्य संबंध में यह भावना नहीं है, तो मानो वह एक बेजान लाश है।

इस्लाम में दाम्पत्य संबंधों के जो क़ानून बनाये गये हैं, उन सब में इस उद्देश्य को नज़रों में रखा गया है। दम्पति एक-दूसरे के साथ रहें, तो मेल-मिलाप, प्रेम और हार्दिक एका के साथ रहें, एक-दूसरे के अधिकारों का ध्यान रखें और आपस के ताल्लुक़ात से उदारता का प्रदर्शन करें। लेकिन अगर वे ऐसा न कर सकें, तो फिर उनके साथ रहने से जुदा रहना बेहतर है, क्योंकि प्रेम और रहमत की आत्मा निकल जाने के बाद दाम्पत्य सम्बन्ध एक मुर्दा जिस्म है, जिसको अगर दफ़न न कर दिया जाए, तो बदबू पैदा होगी और इससे पारिवारिक जीवन का सारा वातावरण विषैला हो जाएगा। इसीलिए क़ुरआन मजीद कहता है —

> "और अगर आपस में मिल-जुल कर रहो और एक-दूसरे पर ज़्यादती करने से बचो, तो बेशक अल्लाह बख़्शने वाला मेहरबान है और 'अगर यह न हो सके' तो दम्पति एक-दूसरे से जुदा हो जाएं, तो अल्लाह ग़ैब के अपने व्यापक ख़ज़ाने से हर एक का भरण-पोषण करेगा।" —अन-निसा, १२९-१३०

फिर जगह-जगह हुक्म बयान करने के साथ ताकीद की गयी है—

"या तो भले तरीक़े से उनको अपने पास रखा जाए या एहसान

(भले तरीक़े) के साथ विदा कर दिया जाए।"

—अल-बक़र : २२९

"या तो भले तरीक़े से उनको अपने पास रखा जाए या एहसान के साथ विदा कर दिया जाए।"

—तलाक़ : २

"अपनी बीवियों के साथ अच्छी तरह रहो।"

—अन-निसा : १९

"या तो भले लोगों की तरह उनको रखो या भले लोगों की तरह विदा कर दो, सिर्फ़ सताने के लिए उनको न रोक रखो कि उनका हक़ मारने लगो और जो ऐसा करेगा, वह अपने आप पर ख़ुद ज़ुल्म करेगा।" (यानी अपने आप को ख़ुदा के अज़ाब का हक़दार बनायेगा)

अल-बक़र : २३१

"और आपस के ताल्लुक़ात में 'फ़ज़्ल' को न भूलो।" (यानी दानशीलता का व्यवहार करो।)

—अल-बक़र : २३७

रजअी तलाक़ के हुक्मों का जहां बयान हुआ है, वहां रुजू के लिए नेकनीयती की शर्त लगा दी गयी, यानी दो तलाक़ देने के बाद तीसरी तलाक़ से पहले शौहर को यह हक़ तो है कि अपनी बीवी की तरफ़ रुजू करे, मगर शर्त यह है कि उसकी नीयत मिल-जुल कर रहने की हो, न कि सताने की और लटकाए रखने की क़ुरआन में है—

"उनके शौहर ताल्लुक़ात ठीक कर लेने पर तैयार हों, तो वे इस इद्दत के दौरान में उन्हें फिर अपनी बीवी बनाये रखने के लिए वापस ले लेने के हक़दार हैं।"

—अल-बक़र : २२८

ग़ैर-मुस्लिमों से दाम्पत्य सम्बन्ध रखने के दोष

यही वजह है कि मुसलमान मर्दों और औरतों के लिए तमाम उन ग़ैर-मुस्लिमों से दाम्पत्य सम्बन्ध रखने से रोक दिया गया है, जो अह्ले किताब (जैसे ईसाई, यहूदी) नहीं हैं, क्योंकि वे अपने धर्म, अपने विचार, अपनी संस्कृति व सभ्यता और अपने तौर-तरीक़ों में मुसलमानों से इतने भिन्न हैं कि एक सच्चे मुसलमान का दिली मुहब्बत और रूह की एकात्मता के साथ उनसे मेल नहीं हो सकता। अगर इस विविधता के बावजूद वे एक-दूसरे के साथ जोड़े जाएं, तो उनका दाम्पत्य सम्बन्ध कोई सही सांस्कृतिक सम्बन्ध न होगा, बल्कि मात्र एक वासनापूर्ण सम्बन्ध बन जाएगा और इस में या तो प्रेम और सहचर्य न होगा या अगर होगा तो वह इस्लामी संस्कृति व सभ्यता के लिए और खुद उस मुसलमान के लिए लाभप्रद होने के बजाय उलटे हानिप्रद हो जाएगा। क़ुरआन में है—

> "मुश्रिक औरतों से विवाह न क़रो, जब तक कि वे ईमान न लाएं। एक मोमिन लौंडी एक मुश्रिक शरीफ़ज़ादी से बेहतर है, यद्यपि वह तुम को पसन्द हो और मुश्रिक मर्दों से अपनी औरतों की शादियां न करो, जब तक कि वे ईमान न लाएं। एक मोमिन ग़ुलाम एक मुश्रिक शरीफ़ज़ादे से बेहतर है, यद्यपि वह तुम को पसन्द हो।"
>
> —अल-बक़र : २२१

अह्ले किताब के मामले में यद्यपि क़ानून इसकी इजाज़त देता है कि उनकी औरतों से विवाह कर लिया जाए[1], क्योंकि सभ्यता की बुनियादों में एक हद तक हमारे और उनके बीच एकरूपता है। लेकिन

---

१. अह्ले किताब मर्दों से मुसलमान औरतों का विवाह फिर भी नहीं हो सकता, क्योंकि औरत के स्वभाव में प्रभावित होने का तत्व अपेक्षाकृत

इसको भी इस्लाम में पसन्दीदगी की नज़र से नहीं देखा गया है। हज़रत काब बिन मालिक रज़ि० ने एक किताबिया (अह्ले किताब में की औरत) से विवाह करना चाहा, तो हुज़ूर सल्ल० ने उनको मना फ़रमा दिया और मना करने की वजह यह बयान फ़रमायी –

"वह तुझे मुह्सिन (चरित्र और पाकदामनी की हिफ़ाज़त करने वाला) नहीं बना सकती।"

अर्थ यह है कि इस शक्ल में दोनों के बीच वह प्रेम और मुहब्बत न होगी, जो एह्सान की मूल भावना है।

हज़रत हुज़ैफ़ा रज़ि० ने एक यहूदी औरत से निकाह करना चाहा, तो हज़रत उमर रज़ि० ने उनको लिखा कि उसे छोड़ दो।

हज़रत अली और हज़रत इब्न उमर रज़ि० ने किताबी औरतों से निकाह को स्पष्ट रूप से मकरूह (नापसन्दीदा) कहा है। हज़रत अली ने नापसन्दीदगी की दलील यह पेश की है कि जो मोमिन है, वह ऐसे लोगों से मुहब्बत नहीं कर सकता, जो अल्लाह और उसके रसूल सल्ल० के विरोधी हों और जब दम्पति में मुहब्बत ही न हो, तो ऐसा विवाह किस काम का?

अधिक होता है, इसलिए एक ग़ैर-मुस्लिम परिवार और समाज में ग़ैर-मुस्लिम पति के साथ उसके रहने से यह ख़तरा ज़्यादा है कि वह उनका रंग अपना लेगी और यह आशा बहुत कम है कि उन्हें अपने रंग में रंग लेगी। साथ ही अगर वह उनका प्रभाव न ग्रहण करे, तो यह बात विश्वास से कही जा सकती है कि उसका संबंध मात्र वासनापूर्ण संबंध बन कर रह जाएगा, न ग़ैर-मुस्लिम पति से वह प्रेम और मुहब्बत के साथ जुड़ सकेगी और न ग़ैर-मुस्लिम परिवार और समाज के साथ उसका कोई फ़ायदेमंद सांस्कृतिक संबंध स्थापित हो सकेगा।

कुफ़्व (सम स्तरीयता) की समस्या

खुद मुसलमानों के बीच भी शरीअत यही चाहती है कि दाम्पत्य सम्बन्ध ऐसे मर्द-औरत के बीच स्थापित हों, जिनके बीच आपसी मेल-मुहब्बत की उम्मीद हो और जहां यह उम्मीद न हो, वहां यह रिश्ता करना मक्रूह है। यही वजह है कि नबी सल्ल० ने विवाह से पहले औरत को देख लेने का हुक्म (या कम-से-कम मशिवरा) दिया है –

"जब तुम में से कोई व्यक्ति किसी औरत को निकाह का पैग़ाम दे, तो जहां तक संभव हो, उसे देख लेना चाहिए कि क्या उसमें कोई ऐसी चीज़ है, जो उसको उस औरत से विवाह की प्रेरणा दिलाने वाली हो।"

और यही कारण है कि शरीअत विवाह के मामले में कुफ़्व (सम-स्तरीयता) को ध्यान में रखना पसंद करती है और ग़ैर-कुफ़्व में विवाह को उचित नहीं समझती। जो औरत और मर्द अपने चरित्र में, अपनी दीनदारी में, अपने परिवार के तौर-तरीक़ों में, अपने खानपान और रहन-सहन में, एक दूसरे से मिल-जुल गये हों, या कम-से-कम क़रीबी एकरूपता रखते हों, उनके बीच प्रेम और मुहब्बत का ताल्लुक़ पैदा होने की अधिक आशा है और उनके आपसी सम्बन्धों से इसकी भी आशा की जा सकती है कि इन दोनों के ख़ानदान भी इस रिश्ते की वजह से एक-दूसरे के साथ एकता-सूत्र में पिरोये जा सकेंगे। इसके विपरीत जिनके बीच यह एकरूपता न हो, उनके मामले में ज़्यादातर आशंका यही है कि वे घर की ज़िंदगी में और अपने हार्दिक और आत्मिक संबंधों में एक-दूसरे से जुड़ न सकेंगे और अगर व्यक्तिगत रूप से पति और पत्नी आपस में जुड़ भी जाएं, तो कम ही यह आशा की जा सकती है कि दोनों के परिवार आपस में मिल सकें। इस्लामी शरीअत में कुफ़्व की यही बुनियाद है।

ऊपर दी हुई मिसालों से यह बात साबित हो जाती है कि चरित्र और पाकदामनी की रक्षा के बाद दूसरी चीज़ जो इस्लाम के पारिवारिक क़ानून में उद्देश्यपूर्ण महत्व रखती है, वह दम्पति के बीच प्रेम और मुहब्बत है। जब तक उनके ताल्लुक़ात में इस चीज़ के बाक़ी रहने की आशा हो, इस्लामी क़ानून उनके विवाह-संबंध की रक्षा पर अपनी पूरी शक्ति लगा देता है, पर जब यह प्रेम-मुहब्बत बाक़ी न रहे और उसकी जगह बेदिली, उदासीनता, घृणा और बेज़ारी पैदा हो जाए, तो क़ानून का रुझान विवाह-सूत्र की गांठ खोल देने की ओर आकृष्ट हो जाता है। यह बात भी इस योग्य है कि इसे मन में बिठा लिया जाए, क्योंकि जो लोग इसको नज़रंदाज़ कर के इस्लामी क़ानून के नियमों को आंशिक चीज़ों पर चरितार्थ करते हैं, वे क़दम-क़दम पर ऐसी ग़लतियां कर जाते हैं, जिनसे क़ानून का असल उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

क़ानून की बुनियाद

क़ानून के उद्देश्यों को समझ लेने के बाद हम को यह देखना चाहिए कि इस्लाम के पारिवारिक क़ानूनों को किन बुनियादों पर तर्तीब दिया गया है, इसलिए कि जब तक बुनियादें ठीक-ठीक न मालूम हों, छोटे-छोटे मामलों में क़ानून के आदेशों को सही तरीक़े से लागू करना कठिन है।

पहली बुनियाद

क़ानून की बुनियादों में पहली बुनियाद, जिससे बहुत से हुक्म निकलते हैं, यह है कि पारिवारिक जीवन में मर्द को औरत से एक दर्जा ज़्यादा दिया गया है –

"मर्दों के लिए उन (औरतों) पर एक दर्जा अधिक है।"

—क़ुरआन

इस दर्जे की व्याख्या हम को इस आयत में मिलती है –

"मर्द औरतों पर 'क़व्वाम' (सिरधरे) हैं। इसलिए अल्लाह ने एक को दूसरे पर प्रमुखता दी है और इस कारण कि वे अपने माल ख़र्च करते हैं। बस जो नेक औरतें हैं, वे शौहरों का आज्ञापालन करने वाली और उनकी ग़ैर-मौजूदगी में अल्लाह की तौफ़ीक़ से उनके अधिकारों की हिफ़ाज़त करने वाली होती हैं।"

—अन-निसा : ३४

यहां इस वार्ता का मौक़ा नहीं कि मर्द को औरत पर प्रमुखता किस लिए प्राप्त है और उसको 'क़व्वाम'[1] क्यों बनाया गया है? यह क़ानून की नहीं, समूह-दर्शन का विषय है। अपने विषय की सीमा में रह कर हम यहां केवल इस बात का स्पष्टीकरण कर देना चाहते हैं कि पारिवारिक जीवन की व्यवस्था को ठीक-ठाक रखने के लिए बहरहाल दम्पति में से एक क़व्वाम और मामलों की देखभाल करने वाला होना ज़रूरी है। अगर दोनों बिल्कुल समान दर्जा और समान अधिकार रखने वाले हों, तो दुर्व्यवस्था पैदा होना निश्चित है, जैसा कि वास्तव में उन क़ौमों में पैदा हो रही है, जिन्होंने व्यावहारिक रूप से दम्पतियों के बीच 'समता' पैदा करने की कोशिश की है। इस्लाम चूंकि एक स्वाभाविक धर्म है, इसलिए उसने मानव-स्वभाव को ध्यान में रख कर पति-पत्नी में से एक को 'क़व्वाम' और संरक्षक और दूसरे को आज्ञाकारी और मातहत बनाना ज़रूरी समझा और 'क़व्वाम' बनाने के लिए उस फ़रीक़ को चुना, जो स्वभावतः यही भावना लेकर पैदा हुआ है।[2]

मर्द के कर्तव्य

तो इस्लामी क़ानून के मातहत पारिवारिक जीवन का जो नियम तय किया गया है, उसमें मर्द की हैसियत 'क़व्वाम' की है और इस हैसियत में उसके निम्न कर्तव्य बनते हैं —

१. यह कि वह औरत का महर अदा करे, क्योंकि उसको औरत पर पति होने के जो अधिकार प्राप्त होते हैं, वे महर का मुआवज़ा हैं।

१.क़व्वाम का अर्थ है हाकिम, संरक्षक, कर्त्ता-धर्त्ता, मामलों की देख-भाल करने वाला और सिरधरा (Sustainer, Provider, Protector)

२. इस वार्त्ता को अगर कोई सविस्तार देखना चाहे, तो मेरी पुस्तक 'परदा' देखें।

ऊपर जो आयत नक़ल की गयी है, उसमें यह स्पष्टीकरण मौजूद है कि यद्यपि मूल स्वभाव की दृष्टि से मर्द ही क़व्वाम बनने का हक़दार है, पर व्यावहारिक रूप से यह रुत्बा उसे उस माल के मुआवज़े में मिलता है, जो वह मह्र की शक्ल में ख़र्च करता है। इसकी व्याख्या इन आयतों में भी की गयी है—

"और औरत के मह्र खुशदिली के साथ अदा करो।"
—सूर: निसा: ४

"उन महरम औरतों के सिवा बाक़ी सब औरतें तुम्हारे लिए हलाल की गयीं, ताकि अपने मालों के बदले तुम उनको हासिल करने की कोशिश करो विवाह के बंधन में लाने के लिए, न कि आज़ाद वासना-तृप्ति के लिए। अतः उनसे तुमने लाभ उठाया है, उसके बदले में समझौते के मुताबिक़ उनके मह्र अदा कर दो।"
—सूर: निसा: २४

"अत: लौंडियों के साथ उनके मालिकों की इजाज़त से निकाह करो और मुनासिब तौर पर उनके मह्र अदा कर दो।"
—सूर: निसा: २५

"और हलाल की गयीं तुम्हारे लिए इज़्ज़तदार औरतें ईमान वालों में से और इज़्ज़तदार औरतें उन लोगों में से, जिनके पास तुम से पहले किताब भेजी जा चुकी है, जब कि तुम उनके मह्र अदा कर दो।"
—सूर: माइदा: ५

अत: निकाह के वक़्त औरत और मर्द के बीच मह्र का जो समझौता हुआ हो, उसको पूरा करना मर्द पर ज़रूरी है। अगर वह इस समझौते को पूरा करने से मना करे, तो औरत को हक़ है कि अपने आपको उससे रोक ले। यह ऐसी ज़िम्मेदारी है, जिससे बचने की कोई

सूरत मर्द के लिए अलावा इस के कुछ नहीं है कि औरत या तो उसको मोहलत दे[1] या उसकी ग़रीबी को ध्यान में रख कर खुशी से माफ़ कर दे या उसपर एहसान करके राज़ी-ख़ुशी से अपने हक़ से किनारा इख़्तियार कर ले –

"फिर अगर वे खुशदिली के साथ महर में से कुछ माफ़ कर दें, तो उसको मज़े से खाओ।" —अन-निसा: ४

"अगर तुम समझौते के बाद उसमें कम-ज़्यादा पर आपसी रज़ामंदी से कोई फ़ैसला कर लो, तो इसमें कोई हरज नहीं।" —अन-निसा: २४

२. पति का दूसरा कर्तव्य नफ़क़ा (गुज़ारा-भत्ता) है। इस्लामी क़ानून ने दम्पति की कार्य-सीमाओं को स्पष्ट रूप से रेखांकित कर दिया है। औरत का काम घर में बैठना और पारिवारिक जीवन के कर्त्तव्यों को निभाना है और मर्द का काम कमाना और अपने घर वालों के लिए ज़िंदगी की ज़रूरतें पूरी करना है। यह दूसरी चीज़ है, जिसके कारण पति को अपनी पत्नी पर श्रेष्ठता का एक दर्जा दिया गया है और यह चीज़ 'क़व्वामियत' के अर्थ में ठीक-ठीक दाखिल है। 'क़व्वाम'

---

१. इसी को महरे मुअज्जल कहते हैं। पर आजकल महरे मुअज्जल का अर्थ यह हो गया है कि निकाह के वक़्त हज़ारों लाखों की दस्तावेज़ यह समझ कर लिख दी जाती है कि कौन लेता है, कौन देता है? मानो शुरू ही से अदा करने की नीयत नहीं होती। हालांकि इस नीयत के साथ जो निकाह किया जाए, वह अल्लाह के नज़दीक ग़लत है। हक़ीक़ी मुअज्जल वह है, जिसमें स्पष्ट रूप से मुद्दत निश्चित कर दी गयी हो कि मर्द इतनी मुद्दत में उसे अदा कर देगा और जिस महर के समझौते में महर निश्चित न हो 'तलब करने पर' की हैसियत रखता है। मुझे उन फ़ुक़हा से मतभेद है, जो ऐसे महर को शौहर की मृत्यु के बाद अदा करने योग्य बताते हैं, मानो विवाह तो पति करे और महर उसके वारिसों को देना हो। यह चीज़ उपर्युक्त क़ुरआनी आयतों की भावना के बिल्कुल ख़िलाफ़ और इस फ़त्वे के लिए किताब व सुन्नत में कोई दलील नहीं है।

कहते ही उस व्यक्ति को हैं, जो किसी चीज़ की निगहबानी और ख़बरगीरी रखने वाला हो और इसी हैसियत से उस चीज़ पर क़ाबू रखता हो। क़ुरआन मजीद की आयत 'अर-रिजालु क़व्वामू-न अलन्निसाइ' (मर्द औरतों पर क़व्वाम हैं) से और 'व बिमा अन-फ़क़ू मिन अम्वालिहिम' (और अपने मालों में से जो कुछ ख़र्च किया) से जिस तरह महर का वाजिब होना साबित होता है, उसी तरह नफ़क़े का वाजिब होना भी साबित होता है, अगर पति इस ज़िम्मेदारी को न अदा करे, तो क़ानून उसको अदा करने पर मजबूर करेगा और इंकार की स्थिति में और असमर्थ होने की हालत में उसका निकाह ख़त्म करा देगा। लेकिन नफ़क़े की मात्रा का निर्धारण औरत की इच्छा पर आधारित नहीं है, बल्कि मर्द के सामर्थ्य पर है। क़ुरआन मजीद ने इस बारे में एक नियम बना दिया है कि मालदार पर उसके सामर्थ्य के मुताबिक़ नफ़क़ा है और ग़रीब पर उसके सामर्थ्य के मुताबिक। यह नहीं कि गरीब आदमी से वह नफ़क़ा वसूल किया जाए, जो उसकी हैसियत से ज़्यादा हो या मालदार आदमी वह नफ़क़ा दे, जो उसकी हैसियत से कम हो।

३. मर्द का तीसरा कर्तव्य यह है कि उसको औरत पर जो प्रमुखतापूर्ण अधिकार और हक़ दिये गये हैं, उनको अत्याचारपूर्ण ढंग से न इस्तेमाल करे। अत्याचार की अनेक शक्लें है। जैसे:–

१. ईला– औरत की वासना को पूरा करने से किसी जायज़ उज्र (विवशता) के बिना मुंह मोड़ लेना जिस का उद्देश्य मात्र उस को सज़ा देना और कष्ट पहुंचाना हो। इसके लिए इस्लामी क़ानून ने

---

१. जायज़ उज़्र से तात्पर्य है मर्द या औरत की बीमारी या मर्द का सफ़र की हालत में होना या किसी ऐसी शक्ल का पेश आ जाना. जिसमें मर्द अपनी बीवी से चाव तो रखता हो. पर उसके पास आने का मौक़ा न हो।

ज़्यादा-से-ज़्यादा चार महीने की मुद्दत रखी है। इस मुद्दत के भीतर मर्द के लिए ज़रूरी है कि अपनी बीवी से सहवास करे, वरना मुद्दत बीत जाने के बाद उसे मजबूर किया जाएगा कि औरत को छोड़ दे। क़ुरआन में है –

> "जो लोग अपनी औरतों के पास न जाने की क़सम खा लेते हैं, उनके लिए चार महीने की मोहलत है। अगर वे रुजू कर लें, तो अल्लाह बख़्शने वाला मेहरबान है और अगर तलाक़ का निश्चय कर लें, तो अल्लाह सुनने और जानने वाला है।"
>
> –सूरः बक़रः २२६-२२७

इस मस्अले में कुछ फ़क़ीहों (धर्म-शास्त्रियों) ने हलफ़ की शर्त लगायी है, अर्थात् अगर शौहर ने बीवी के पास न जाने की क़सम खायी है, तब तो ईला होगा और यह हुक्म जारी किया जाएगा, पर अगर क़सम नहीं खायी, तो चाहे वह बीवी से नाराज़ होकर दस वर्ष भी उससे अलग रहे, उस पर ईला का नियम लागू न होगा, लेकिन मैं इस राय से सहमत नहीं हूँ। मेरी दलीलें निम्नलिखित हैं :–

एक यह कि क़ुरआन मजीद अगर किसी मामले की किसी विशेष स्थिति के बारे में कोई हुक्म दे और ऐसे शब्द इस्तेमाल करे, जो मामले की उसी स्थिति पर लागू होते हों, तो उससे यह अनिवार्य नहीं होता कि इस हुक्म को मामले की इसी स्थिति पर लागू किया जाएगा। मिसाल के तौर पर क़ुरआन ने सौतेली बेटी को उसके बाप पर हराम करने के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया है, वे यह हैं 'व रबाइबुकुमुल्लाती फ़ी हुजूरिकुम' (और तुम्हारी वे पाली गयी लड़कियां, जिन्होंने तुम्हारी गोदों में परवरिश पायी है) इससे सिर्फ़ उन लड़कियों के हराम होने का हुक्म निकलता है, जो छोटी उम्र में अपनी मां के साथ सौतेले बाप के घर आयी हों, पर कोई भी इसका

क़ायल नहीं है कि यह हुक्म केवल इसी स्थिति के लिए मुख्य है, बल्कि सब इस लड़की के हराम होने पर सहमत हैं, जो सौतेले बाप से अपनी मां के निकाह के वक़्त जवान हो और जिसने एक दिन भी उस बाप के घर में परवरिश न पायी हो। इसी तरह अगर क़ुरआन ने शब्द 'युअ्लू-न मिन निसाइहिम' (बीवियों से सहवास न करने की क़सम खा लेते हैं) के शब्द प्रयुक्त किये हैं, तो इससे यह अनिवार्य नहीं हो जाता कि ऐसे लोगों के लिए जो हुक्म बयान किया गया है, वह केवल क़सम खाने वाले लोगों ही के लिए म्ख्य हो।

दूसरे यह कि फ़िक़्ही हुक्मों (धर्म-शास्त्र से ताल्लुक़ रखने वाले आदेशों) के निकालने में यह नियम क़रीब-क़रीब तमाम मुसलमानों में मान्य है कि मामले की जिस शक्ल के लिए कोई हुक्म न पाया जाता हो, उसे मामले की किसी ऐसी शक्ल पर सोचा जा सकता है, जिस के बारे में हुक्म मौजूद हो, बस शर्त यह है कि दोनों में हुक्म की वजह एक जैसी हो।

अब सवाल यह है कि शरीअत देने वाले ने ईला करने वालों को चार महीने की मुद्दत किस लिए मुक़र्रर की है? और क्यों यह फ़रमाया है कि अगर इस मुद्दत के अन्दर रुजू न करो, तो फिर तलाक़ दे दो? क्या इसकी वजह इसके सिवा कुछ और बतायी जा सकती है कि चार -महीने से ज़्यादा मुद्दत तक सहवास से बचना औरत के लिए नुक़्सान का कारण है और शरीअत देने वाला नुक़्सान ही से रोकना चाहता है? इसी आयत से अगले रुकूअ में शारेअ् का यह इर्शाद मौजूद है कि इन को सिर्फ़ नुक़्सान के लिए न रोक रखो, ताकि उनपर ज़्यादती करो और सूरः निसा में शारेअ् फ़रमाता है, "अतः एक ही बीवी की तरफ़ पूरी तरह न झुक पड़ो कि दूसरी को लटकता छोड़ दो।" इन बातों से साफ़ मालूम होता है कि एक औरत को निकाह में भी रखना और फिर उसे लटकता छोड़ना और सिर्फ़ सताने के लिए रखना शरीअत को पसन्द नहीं है।

इसके सिवा चार महीने की मुद्दत मुक़र्रर करने की कोई दूसरी वजह नहीं बयान की जा सकती। अब अगर यही वजह इस शक्ल में भी पायी जाती हो, जबकि शौहर क़सम खाये बग़ैर बीवी से जानबूझ कर सहवास करना छोड़ दे, तो क्यों न उसपर यही हुक्म लागू किया जाए? आख़िर क़सम खाने या न खाने से नुक़्सान के मामलें में क्या अन्तर हो जाता है? क्या कोई उचित व्यक्ति यह सोच सकता है कि शौहर क़सम खा कर सहवास छोड़ दे, तो नुक़्सान होगा और अगर उसने क़सम न खायी हो, तो सारी उम्र भी उस बीवी के पास न जाने से कोई नुक़्सान पैदा न होगा।

तीसरे यह कि इस्लामी दृष्टिकोण से पारिवारिक क़ानून का सबसे अहम उद्देश्य चरित्र और सतीत्व की रक्षा है। एक मर्द अगर एक बीवी से नाराज़ होकर दूसरी बीवी कर ले, तो वह इस तरह अपने आप को बदकारी और बदनज़री से बचा सकता है, लेकिन वह औरत जिसे उसके शौहर ने वासना-तृप्ति से स्थायी रूप से महरूम कर रखा हो, किस तरह अपने चरित्र की रक्षा कर सकती है, जब तक कि उसका शौहर उसकी तरफ़ रुजू न करे। क्या शारेअ़ हकीम से यह आशा की जा सकती है कि एसी औरत के शौहर ने अगर उससे अलग रहने की क़सम खायी हो, तब तो वह उसके चरित्र की रक्षा का प्रबन्ध करेगा, वरना उसे असीमित समय तक दुराचरण के ख़तरे में फंसा छोड़ देगा।

इन कारणों से मेरे नज़दीक मालिकी फ़ुक़हा (धर्म-शास्त्रियों) के फ़त्वे के दृष्टिकोण पर अमल होना चाहिए, जो फ़रमाते हैं, "अगर शौहर बीवी को तकलीफ़ देने की नीयत से सहवास छोड़ दे, तो उसपर भी ईला ही का हुक्म लगाया जाएगा, अगरचे उसने क़सम न खायी हो, क्योंकि ईला पर पाबन्दी लगाने से शारेअ़ का अभिप्राय 'ज़िरार' (नुक़्सान) को रोकना है और यह वजह सहवास के छोड़ने में भी पायी

जाती है, जो हलफ़ के बिना ज़िरार के इरादे से किया जाए।"[1]

'फ़ इन अ-ज़ मुत्तलाक' (तो अगर तलाक़ का इरादा किया) की व्याख्या में भी फ़ुक़हा के बीच मतभेद हुआ है। हज़रत उस्मान बिन अफ़्फ़ान, ज़ैद बिन साबित, इब्ने मसऊद और इब्ने अब्बास रज़ि० की राय यह है कि चार महीने की मुद्दत का गुज़र जाना ही इस बात की दलील है कि शौहर ने तलाक़ का इरादा कर लिया है, इसलिए इस मुद्दत के ख़त्म होने पर उसको रुजू का हक़ बाक़ी नहीं रहता। हज़रत अली और इब्ने उमर रज़ि० से भी एक कथन इसी तरह का नक़ल किया जाता है, पर एक दूसरा कथन, जो बाद के दोनों बुज़ुर्गों और हज़रत आइशा रज़ि० से पहुंचा है, यह है कि मुद्दत ख़त्म होने पर शौहर को नोटिस दिया जाएगा कि अपनी बीवी से रुजू करो या उसको तलाक़ दे दो, लेकिन जब हम आयत के शब्दों पर विचार करते हैं, तो पहला कथन ही सही लगता है। आयत में अल्लाह ने ईला करने वालों को केवल खुले शब्दों में चार महीने की मोहलत दी है। उसको रुजू का अधिकार इस मोहलत के भीतर ही है। इसके ख़त्म हो जाने पर दूसरी शक्ल तलाक़ और जुदाई के अलावा और कोई नहीं है।[2] अब अगर कोई व्यक्ति चार महीने के बाद उसको रुजू का हक़ देता है, तो मानो वह उसकी मोहलत में वृद्धि करता है और यह वृद्धि ज़ाहिर में अल्लाह की किताब की मुक़र्रर की हुई हद से ज़्यादा है।

२. **ज़िरार और तअद्दी**— औरत से लगाव न हो और उसको रखना न चाहे, पर सिर्फ़ सताने और ज़्यादती करने के लिए उसको रख छोड़े, बार-बार तलाक़ दे और दो तलाक़ों के बाद तीसरी तलाक़ से पहले रुजू कर ले, क़ुरआन मजीद में इसको निहायत सख़्ती के साथ मना किया गया है कि यह भी ज़ुल्म है—

---

१. अह्कामुल क़ुरआन इब्ने अरबी, भाग १, पृ० ७५, बिदायतुल मुज्तहिद, इब्ने रुश्द, भाग २, पृ० ८८

२. इसमें मतभेद है कि यह तलाक़े बाइन के हुक्म में है या रजई के हुक्म में।

"और उनको सताने और ज़्यादती करने के लिए न रोक रखो। जो ऐसा करेगा, वह अपने ऊपर आप जुल्म करेगा। अल्लाह की आयतों का मज़ाक़ न बना लो।"[1] —सूरः बक़रः २३१

ज़िरार और तअ़द्दी के शब्द अति व्यापक हैं। स्पष्ट है कि जो व्यक्ति सताने और ज़्यादती करने की नीयत से किसी औरत को रोके रखेगा, वह हर तरह से उसको कष्ट पहुंचायेगा, आध्यात्मिक और शारीरिक कष्ट देगा, नीच होगा, तो मार-पीट और गाली-गलौच करेगा, ऊंचे वर्ग का होगा, तो ज़लील करने और कष्ट पहुंचाने के दूसरे तरीक़े अपनायेगा। ज़िरार और तअ़द्दी के शब्द इन सब पर हावी हैं और क़ुरआन मजीद के अनुसार ये सभी कर्म वर्जित हैं। जो शौहर अपनी बीवी के साथ इस तरह का बर्ताव करता है, वह अपनी जायज़ हद से आगे बढ़ जाता है और ऐसी हालत में औरत इसकी हक़दार है कि क़ानून की मदद लेकर उस मर्द से छुटकारा हासिल करे।

---

१. क़ानून के शब्दों में ऐसा नाजायज़ फ़ायदा उठाना जो क़ानून के मक़सद और उसकी भावना के विरूद्ध हो, वास्तव में क़ानून से खेलना और उसका मज़ाक उड़ाना है। क़ुरआन में मर्द को एक तलाक़ या दो तलाक़ देकर रुजू कर लेने का जो हक़ दिया गया है, वह केवल इस उद्देश्य के लिए है कि अगर इस बीच दम्पति के बीच समझौता हो जाए और उनके आपस में मिल-जुल कर रहने की कोई सूरत निकल आए, तो शरीअत की ओर से उसमें कोई न रुकावट, रोक न हो। लेकिन अगर कोई व्यक्ति इस गुंजाइश से फ़ायदा उठा कर तलाक़ दे, फिर इद्दत गुज़रने से पहले रुजू कर ले, फिर तलाक़ दे और फिर रुजू कर ले और इस हरकत से उसका उद्देश्य यह हो कि औरत को ख़ामख़ाह लटकाये रखे, न ख़ुद अपने घर में बसाये और न उसे आज़ाद ही करे कि बेचारी कहीं और निकाह कर सके, तो यह ख़ुदा के क़ानून से मसख़रापन और खेल है, जिसकी हिम्मत कोई सच्चा मोमिन नहीं कर सकता।

३. बीवियों में न्याय न करना— अनेक बीवियां होने की स्थिति में किसी एक की तरफ़ झुकाव होने पर दूसरी पत्नी या पत्नियों को लटकाये रखना ज़ुल्म है, जिसे क़ुरआन मजीद स्पष्ट शब्दों में नाजायज़ ठहराता है –

"किसी एक की तरफ़ बिल्कुल न झुक पड़ो कि दूसरी को मानो लटकाये रख छोड़ो।"

—अन-निसा : १२९

क़ुरआन में बहुविवाह की इजाज़त न्याय की शर्त के साथ दी गयी है। अगर कोई व्यक्ति न्याय न कर सके, तो उसे सशर्त इजाज़त से फ़ायदा उठाने का कोई हक़ नहीं है। ख़ुद उस आयत में भी जहां बहुविवाह की इज़ाज़त दी गयी है, साफ़ हुक्म मौजूद है कि अगर न्याय न कर सके, तो एक ही बीवी रखे—

"फिर अगर तुम को भय हो कि न्याय न कर सकोगे, तो एक ही बीवी रखो, या लौंडी जो तुम्हारे क़ब्ज़े में हो, यह मस्लहत के ज़्यादा क़रीब है, ताकि तुम हक़ की हदें पार न कर जाओ।"

—अन-निसा : ३

इमाम शाफ़ई रह० ने 'अल्ला तअूलू' का अर्थ बताया है कि तुम्हारे बच्चे ज़्यादा न हों, जिनके पालने-पोसने का बोझ तुम पर पड़ जाए। लेकिन यह मूल शाब्दिक अर्थ के ख़िलाफ़ है। शब्द कोष में 'औल' का अर्थ 'झुकाव' है। इसलिए क़ुरआन मजीद की उपर्युक्त आयत से साबित होता है कि जो व्यक्ति दो या दो से अधिक बीवियों के बीच न्याय नहीं करता और एक की ओर झुक कर दूसरी के हक़ों को अदा करने में कोताही करता है, वह ज़ालिम है। बहुविवाह की इजाज़त से फ़ायदा उठाने का उसको कोई हक़ नहीं। क़ानून को ऐसी हालत में उसे केवल एक बीवी रखने पर मजबूर करना चाहिए और

दूसरी बीवी या बीवियों को उसके ख़िलाफ़ क़ानूनी हक़ पाने का अधिकार होना चाहिए।

न्याय (अदल) के सिलसिले में क़ुरआन ने स्पष्ट कर दिया है कि दिली मुहब्बत का जहां तक ताल्लुक़ है, उसमें समानता बरतने पर न इंसान क़ुदरत रखता है और न इसका ज़िम्मेदार है. और तुम हरगिज़ इसमें समर्थ नहीं हो कि औरतों के बीच न्याय कर सको, भले ही तुम्हारी इच्छा हो, अलबत्ता उसको जिस बात का ज़िम्मेदार बनाया गया है, वह यह है कि गुज़ारा-भत्ता, खान-पान और मियां-बीवी के ताल्लुक़ात में उनके साथ समान बर्ताव करे।

मर्द के ज़ुल्म की ये तीन शक्लें ऐसी हैं, जिनमें क़ानून हस्तक्षेप कर सकता है। इनके अलावा दम्पति के आपसी संबंधों में बहुत-से ऐसे मामले भी पेश आ सकते हैं और आते रहते हैं, जो प्रेम और रहमत के विपरीत हैं, पर इन में क़ानून के लिए हस्तक्षेप की गुंजाइश नहीं है। क़ुरआन मजीद ने ऐसे मामलों के लिए शौहरों को सामान्य नैतिक आदेश दिये हैं, जिनका सार यह है कि औरत के साथ मर्द का व्यवहार उदारतापूर्ण और प्रेममय होना चाहिए। रात-दिन की थूका-फ़ज़ीहती के साथ ज़िंदगी बिताना मूर्खता है। अगर औरत को रखना है, तो सीधी तरह से रखो, न बने तो सीधी तरह विदा कर दो। क़ुरआन मजीद की इन हिदायतों को क़ानून की ताक़त से लागू नहीं किया जा सकता और न यह संभव ही है कि मियां-बीवी के हर झगड़े में क़ानून हस्तक्षेप किया करे लेकिन इससे क़ानून की भावना यह मालूम होती है कि वह न्याय और इंसाफ़, रहमत और प्रेम के बर्ताव की ज़िम्मेदारी ज़्यादातर मर्द पर डालता है।

मर्द के हक़

मर्द को क़व्वाम होने का पद जिन ज़िम्मेदारियों के साथ दिया गया

है, वे ऊपर बयान हुईं। अब देखना चाहिए कि क़व्वाम होने की हैसियत से मर्द के क्या हक़ हैं।

१. अनुपस्थिति में हिफ़ाज़त करने वाली— औरत पर मर्द का पहला हक़ क़ुरआन मजीद ने ऐसे शब्दों में बयान किया है, जिनका बदल किसी दूसरी भाषा में जुटाया ही नहीं जा सकता। वह कहता है —

> "जो नेक औरत हैं, वे आज्ञापालन करने वाली और ग़ैब (अनुपस्थिति) में हिफ़ाज़त करने वाली हैं, अल्लाह की हिफ़ाज़त के मातहत।"
>
> —अन-निसा : ३४

यहां 'ग़ैब की हिफ़ाज़त' से तात्पर्य हर उस चीज़ की हिफ़ाज़त करना है,जो शौहर की हो और उसकी अनुपस्थिति में अमानत के तौर पर औरत के पास रहे। इसमें उसकी नस्ल की हिफ़ाज़त, उसकी आबरू की हिफ़ाज़त, उसके वीर्य्य की हिफ़ाज़त, उसके माल की हिफ़ाज़त, उसके रहस्यों की हिफ़ाज़त, तात्पर्य यह है कि सब कुछ आ जाता है। अगर औरत इन हक़ों में से किसी हक़ को अदा करने में कोताही करे, तो मर्द को उन अधिकारों के इस्तेमाल का हक़ होगा, जिनका उल्लेख आगे किया जाता है।

२. शौहर का आज्ञापालन— मर्द का दूसरा हक़ यह है कि औरत उसका आज्ञापालन करे।'जो नेक औरतें हैं, वे आज्ञापालन करने वाली हैं' (सूर: निसा ३९) यह एक आम हुक्म है, जिसकी व्याख्या में नबी सल्ल० ने अनेक चीज़ें बयान फ़रमायी हैं। जैसे:—

> "तुम्हारा उन पर यह हक़ है कि वे तुम्हारे यहां किसी ऐसे व्यक्ति को न आने दें, जिसको तुम नापसन्द करते हो।"

> "वह उसके घर में से कोई चीज़ उसकी इजाज़त के बग़ैर सदक़ा न

करे। अगर ऐसा करेगी, तो बदला शौहर को मिलेगा और गुनाह औरत पर होगा। साथ ही यह कि वह उसकी इजाज़त के बग़ैर उसके घर से न निकले।''

''औरत अपने शौहर की मौजूदगी में रमज़ान के सिवा नफ़्ल रोज़े उसकी इजाज़त के बिना एक दिन भी न रखे।''

''बेहतरीन औरत वह है कि जब तू उसे देखे, तो तेरा दिल खुश हो जाए और जब तू उसको हुक्म दे तो वह तेरी बात माने और जब तू उसके पास मौजूद न हो, तो वह तेरे माल और अपने नफ़्स में तेरे हक़ की हिफ़ाज़त करे।''

आज्ञापालन के इस आम हुक्म में केवल एक अपवाद है और वह यह कि अगर औरत से उसका शौहर अल्लाह की अवज्ञा की मांग करे, तो वह उसका हुक्म मानने से इंकार कर सकती है, बल्कि उसे इंकार कर देना चाहिए, जैसे वह फ़र्ज़ नमाज़ और रोज़े से मना करे या शराब पीने का हुक्म दे या शरई परदा छुड़ाये या बेहयाई का काम उससे कराना चाहे, तो औरत न केवल यह कि इंकार कर सकती है, बल्कि उसका फ़र्ज़ है कि शौहर के ऐसे हुक्म को ठुकरा दे, इसलिए कि पैदा करने वाले की नाफ़रमानी में किसी पैदा की हुई चीज़ का आज्ञापालन जायज़ नहीं। इस विशेष स्थिति के अलावा शेष तमाम परिस्थितियों में शौहर का आज्ञापालन औरत का कर्तव्य है। अगर न करेगी, तो नाफ़रमानी होगी और शौहर को उन अधिकारों को इस्तेमाल करने का हक़ होगा, जिनका विवेचन आगे आता है।

मर्द के अधिकार

इस्लामी क़ानून ने चूंकि मर्द को क़व्वाम बनाया है और उस पर औरत के महर, गुज़ारा-ख़र्च और रक्षा व देख-भाल की ज़िम्मेदारी डाली है, इसलिए वह मर्द को औरत पर कुछ ऐसे अधिकार देता है, जो

पारिवारिक जीवन की व्यवस्था बनाये रखने और अपने घर के चरित्र और अच्छे रहन-सहन की रक्षा करने और स्वयं अपने हक़ों को बर्बाद होने से बचाने के लिए उसको हासिल होना ज़रूरी है। इस्लामी क़ानून में इन अधिकारों को स्पष्ट रूप से बयान किया गया है और इसके साथ ही वे सीमाएं भी निश्चित कर दी गयी हैं, जिनके भीतर ये अधिकार इस्तेमाल किये जा सकते हैं।

१. उपदेश, चेतावनी और सज़ा— अगर औरत अपने शौहर का आज्ञापालन न करे या उसके हक़ों में से किसी हक़ को हड़प कर ले, तो ऐसी स्थिति में मर्द पर अनिवार्य है कि पहले उसको उपदेश दे, न माने तो उसको अधिकार है कि अपने बर्ताव में ज़रूरत भर उसके साथ सख़्ती करे और अगर इस पर भी न माने, तो उसको मार सकता है, यहां तक कि वह उसका आज्ञापालन करने लगे है। क़ुरआन में है—

> "और जिन औरतों में तुम नुशूज़[1] देखो, उनको नसीहत करो और बिस्तरों पर उनको छोड़ दो और उनको मारो। अगर वह तुम्हारा आज्ञापालन करें, तो फिर उनपर सख़्ती करने का कोई तरीक़ा न ढूंढ़ो।" —अन-निसा: ३४

इस आयत में 'बिस्तरों पर उनको छोड़ दो' फ़रमा कर सज़ा के तौर पर सहवास छोड़ने की इजाज़त दी गयी है, पर ईला की आयत में, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है, इसके लिए एक स्वाभाविक सीमा निश्चित कर दी गयी है कि यह बिस्तर पर अलगाव चार महीने से ज्यादा न हो। जो औरत इतनी नाफ़रमान और सरकश हो कि शौहर नाराज़ होकर उसके साथ सोना छोड़ दे और वह जानती हो कि चार

---

१. नुशूज़ से तात्पर्य है 'हक़ अदा करने से मुंह फेरना' है, भले ही वह औरत की ओर से हो या मर्द की ओर से।

महीने यह हालत क़ायम रहने के बाद शौहर अल्लाह के क़ानून के मुताबिक़ उसको तलाक़ दे देगा और फिर भी वह नूशूज़ से न तो रुके, वह इसी क़ाबिल है कि उसे छोड़ दिया जाए। चार महीने की मुद्दत उसको 'अदब' सिखाने के लिए काफ़ी है। इससे ज़्यादा मुद्दत तक यह सज़ा देना ग़ैर-ज़रूरी होगा, क्योंकि इतने दिन तक उसका नुशूज़ पर क़ायम रहना, यह जानते हुए कि उसका नतीजा तलाक़ है, इस बात की दलील है कि उसमें अदब सीखने की क्षमता ही नहीं है या वह अच्छी सामाजिकता के साथ कम-से-कम इस शौहर से निबाह नहीं कर सकती। साथ ही इससे उन उद्देश्यों के भी समाप्त हो जाने का डर है, जिनके लिए एक मर्द और एक औरत के साथ निकाह का बन्धन बांधा जाता है। संभव है ऐसी हालत में शौहर अपनी वासना पूरी करने के लिए किसी नाजायज़ तरीक़े की ओर झुक जाए, यह भी मुम्किन है कि औरत किसी नैतिक आज़माइश में पड़ जाए और यह भी डर है कि जहां पति-पत्नी में से एक इस क़दर ज़िद्दी और सरकश हो, वहां दम्पति में प्रेम और मुहब्बत क़ायम न हो सके।

इमाम सुफ़ियान सौरी रह० से 'बिस्तरों पर उनको छोड़ दो' के अर्थ में एक दूसरा कथन भी नक़ल किया गया है। वह अरब काव्य से प्रमाण जुटाते हुए कहते हैं कि अरबी 'हिज्र' का अर्थ बांधना है। 'हिजार' उस रस्सी को कहते हैं, जो ऊंट की पीठ और टांगों को मिला कर बांधी जाती है। इसलिए अल्लाह के इस कथन का उद्देश्य यह है कि जब वे नसीहत न क़ुबूल करें, तो घर में उनको बांध कर डाल दो। लेकिन यह अर्थ क़ुरआन मजीद की मंशा के ख़िलाफ़ है। 'फ़िल मज़ाजेअ़' (बिस्तर में) के शब्दों में क़ुरआन ने अपने मंशा की ओर इशारा कर दिया है। 'मज़जअ़' सोने की जगह को कहते हैं और सोने की जगह में बांधना बिल्कुल एक निरर्थक बात है। दूसरी सज़ा, जिसकी इजाज़त ज़्यादा गंभीर हालत में दी गयी है, मारने की सज़ा है,

पर उसके लिए नबी सल्ल० ने यह क़ैद लगा दी है कि गंभीर चोट न होनी चाहिए–

"अगर तुम्हारे किसी जायज़ हुक्म की नाफ़रमानी करें, तो उनको ऐसी मार मारो जो ज़्यादा कष्टप्रद न हो, मुंह पर न मारो और गाली-गलौज न करो।"

ये दो सज़ाएं देने का अधिकार मर्द को दिया गया है, पर जैसा कि नबी सल्ल० ने कहा है –

"सज़ा उस नाफ़रमानी पर दी जा सकती है,जो मर्द के जायज़ हक़ों से मुताल्लिक़ हों, न यह कि हर सही व ग़लत आदेश के पालन पर आग्रह किया जाए और औरत न माने, तो उसको सज़ा दी जाए, फिर जुर्म और सज़ा के बीच भी एक अनुपात होना चाहिए।"

इस्लामी क़ानून की मान्यताओं में से एक मान्यता यह भी है, 'जो कोई तुम पर ज़्यादती करे, उसपर उतनी ही ज़्यादती करो, जितनी उसने की है।' ज़्यादती के अनुपात से ज़्यादा सज़ा देना ज़ुल्म है। जिस ग़लती पर नसीहत काफ़ी है, उस पर बात-चीत का छोड़ देना और जिसपर बात-चीत का छोड़ देना काफ़ी है, उसपर बिस्तर का छोड़ देना और जिस पर बिस्तर का छोड़ देना काफ़ी है, उसपर मारना ज़ुल्म जाना जाएगा। मार एक आख़िरी सज़ा है,जो सिर्फ गंभीर और असह्य अपराध पर ही दी जा सकती है और इसमें भी उस सीमा का ध्यान रखना ज़रूरी है, जो नबी सल्ल० ने निश्चित की है। इसकी सीमा फांदने की शक्ल में मर्द की ज़्यादती होगी और औरत को हक़ हो जाएगा कि उसके ख़िलाफ़ क़ानून से मदद तलब करे –

२. तलाक़– दूसरा अधिकार मर्द को यह दिया गया है कि जिस औरत के साथ वह निबाह न कर सकता हो, उसको तलाक़ दे दे। चूंकि मर्द अपना माल ख़र्च करके दाम्पत्य अधिकार प्राप्त करता है,

इसलिए इन अधिकारों से हाथ खींच लेने का इख़्तियार भी उसी को दिया गया है।[1] औरत को यह अधिकार नहीं दिया जा सकता, क्योंकि अगर वह तलाक़ की मालिक होती, तो मर्द का हक़ बर्बाद करने का साहस कर बैठती। ज़ाहिर है कि जो व्यक्ति अपना रुपया ख़र्च करके कोई चीज़ हासिल करेगा, वह उसको आख़िरी हद तक रखने की

---

१. कुछ लोग पश्चिमवासियों के अनुपालन में यह चाहते हैं कि तलाक़ देने का अधिकार शौहर से छीन कर अदालत को दे दिया जाए, चुनांचे तुर्की में ऐसा कर भी दिया गया है, लेकिन यह चीज़ क़तई तौर पर किताब व सुन्नत के ख़िलाफ़ है। क़ुरआन ने तलाक़ के हुक्मों को बयान करते हुए हर जगह तलाक़ के काम को शौहर से जोड़ा है। जैसे:—'जब तुम औरतों को तलाक़ दो', 'तो अगर वह उसे तलाक़ दे', 'और अगर वे तलाक़ का निश्चय करें', आदि इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि तलाक़ देने का इख़्तियार शौहर को दिया गया है। फिर क़ुरआन साफ़ शब्दों में शौहर के बारे में कहता है, "निकाह की गिरह उसके हाथ में है।" (अल—बक़र: ३१) अब कौन यह हक़ रखता है कि इस गिरह को उसके हाथ से छीन कर क़ाजी के हाथ में दे दे? इब्ने माजा में हज़रत अब्दुल्लाह बिन अब्बास रज़ि० की रिवायत है कि एक व्यक्ति ने नबी सल्ल० से शिकायत की कि मेरे आक़ा ने अपनी लौंडी का निकाह मुझ से किया था। अब वह इसे मुझ से जुदा करना चाहता है। इस पर आपने अपने ख़ुत्बे में फ़रमाया—

"लोगो! क्या बात है कि तुम में से कोई व्यक्ति अपने दास से अपनी लौंडी ब्याह देता है और फिर दोनों को जुदा करना चाहता है। तलाक़ का अधिकार शौहर को है।" यह हदीस यद्यपि सनद की दृष्टि से मज़बूत नहीं है, पर क़ुरआन के अनुकूल होने से इसे शक्ति मिलती है। अत: अल्लाह और रसूल के कथन के आधार पर यह हरगिज़ जायज़ नहीं है कि तलाक़ देने के अधिकार शौहरों से छीन कर अदालतों के हवाले कर दिये जाएं और अक़्ल की दृष्टि से भी यह बिल्कुल एक ग़लत हरकत है। इसका नतीजा इसके सिवा और क्या हो सकता है कि यूरोप की तरह हमारे यहां भी घरेलू ज़िंदगियों के शर्मनाक झगड़ों और अप्रिय घटनाओं का भरी अदालत में प्रचार किया जाने लगे।

कोशिश करेगा और केवल उस वक़्त उसे छोड़ेगा, जब उसके लिए छोड़ने के सिवा और कोई रास्ता न होगा। लेकिन अगर माल ख़र्च करने वाला एक फ़रीक़ हो और बर्बाद करने का अधिकार दूसरे फरीक़ को मिल जाए, तो इस दूसरे फरीक़ से यह उम्मीद कम की जा सकती है कि वह अपने इस अधिकार के इस्तेमाल में उस फ़रीक़ के हितों पर ध्यान देगा, जिसने माल लगाया है। अतः मर्द को तलाक़ का अधिकार देना, न केवल उसके जायज़ हक़ों की हिफ़ाज़त है, बल्कि इसमें यह भी मस्लहत छिपी हुई है कि तलाक़ का आधिक्य न हो।

दूसरी बुनियाद

इस्लामी पारिवारिक क़ानून की दूसरी बुनियाद यह है कि विवाह के रिश्ते को संभव हद तक सुदृढ़ बनाया जाए और जो मर्द-औरत एक बार इस रिश्ते में बंध चुके हों, उनको आपस में जमा रखने की इंतिहाई कोशिश की जाए, पर जब उनके बीच प्रेम और रहमत की कोई शक्ल बाक़ी न रहे और विवाह-बंधन में उनके बंधे रहने से क़ानून के मूल उद्देश्यों के समाप्त होने का भय हो, तो उनको घृणा, अप्रियता और स्वभाव में अन्तर के बावजूद एक दूसरे के साथ जोड़े रखने पर आग्रह न किया जाए, इस स्थिति से उनके लिए बेहतर यही है कि उनके अलगाव का रास्ता खोल दिया जाए। इस मामले में इस्लामी क़ानून ने मानव-स्वभाव की रियाअत और सांस्कृतिक हितों की रक्षा के बीच ऐसा सही सन्तुलन क़ायम किया है, जिसकी मिसाल दुनिया के किसी क़ानून में नहीं मिल सकती। एक ओर वह विवाह बन्धन को सुदृढ़ बनाना चाहता है, मगर इतना सुदृढ़ नहीं जितना हिन्दू-धर्म और ईसाई-धर्म में है कि दम्पति के लिए वैवाहिक जीवन भले ही कितनी बड़ी मुसीबत बन जाए, बहरहाल वे एक-दूसरे से अलग न हो सकें। दूसरी ओर वह अलगाव के रास्ते खोलता है, पर इतने आसान नहीं, जितने रूस, अमेरिका और पश्चिम के अधिकतर देशों में हैं कि दाम्पत्य जीवन में सिरे से कोई सुदृढ़ता ही बाक़ी न रही और वैवाहिक सम्बन्ध की कमज़ोरी से पारिवारिक जीवन की पूरी

व्यवस्था अस्त-व्यस्त होने लगी।

इस बुनियादी बात के मातहत अलगाव की जो सूरतें रखी गयी हैं, वे तीन हैं–

१. तलाक़, २. खुलअ् और ३. क़ाज़ी का फ़ैसला।

१. तलाक़ और उसकी शर्तें

शरीअत की परिभाषा में तलाक़ से तात्पर्य वह अलगाव है, जिसका हक़ मर्द को दिया गया है। मर्द अपने इस हक़ में आज़ाद है। वह जब चाहे अपने दाम्पत्य हक़ से अलग हो सकता है, जिनको उसने महर के मुआवज़े में हासिल किया था, पर इस्लामी शरीअत तलाक़ को पसन्द नहीं करती। नबी सल्ल० का इर्शाद है कि –

"अल्लाह के नज़दीक हलाल चीज़ों में सबसे ज़्यादा नापसन्दीदा चीज़ तलाक़ है।"

"शादियां करो और तलाक़ न दो, क्योंकि अल्लाह मज़े चखने वालों और मज़े चखने वालियों को पसन्द नहीं करता।"

इसलिए मर्द को तलाक़ का स्वतंत्र अधिकार देने के साथ ऐसी शर्तों का पाबंद कर दिया गया है, जिनके मातहत वह इस अख़्तियार को मात्र आख़िरी रास्ते के तौर पर ही इस्तेमाल कर सकता है। क़ुरआन मजीद की शिक्षा यह है कि अगर औरत तुम को नापसंन्द है, तो जहां तक हो सके, उसके साथ निबाह करने की कोशिश करो–

"उनके साथ अच्छे सुलूक से रहो, अगर वे तुम को नापसन्द भी हों, तो हो सकता है कि तुम किसी चीज़ को नापसन्द करो और अल्लाह उसी में बहुत कुछ भलाई रख दे।"–अन-निसा : १९

लेकिन अगर निबाह न कर सकते हों, तो तुम को हक़ है कि उस को तलाक़ दे दो, पर इकट्ठे छोड़ देना भी सही नहीं है। एक-एक

महीने के अंतर से एक-एक तलाक़ दो। तीसरे महीने के अन्त तक तुम को सोचने-समझने का मौक़ा रहेगा। संभवतः सुधार की कोई शक्ल निकल आए या औरत के रवैए में कोई सुन्दर परिवर्तन हो जाए या ख़ुद तुम्हारा ही दिल बदल जाए। अलबत्ता अगर इस मोहलत में सोचने और समझने के बावजूद तुम्हारा फ़ैसला यही हो कि इस औरत को छोड़ देना चाहिए, तो फिर चाहो तो तीसरे महीने के अन्त तक आख़िरी तलाक़ दे दो, वरना रुजू के बिना यों ही इद्दत बीत जाने दो।[१] क़ुरआन में कहा गया है —

"तलाक़ दो बार है। फिर या तो भले तरीक़े से रोक लिया जाए या फिर शरीफ़ाना तरीक़े से छोड़ दिया जाए।"—सूरः बक़रः २२९

"तलाक़शुदा औरतें अपने आपको तीन माहवारियों तक इन्तिज़ार में रखें। अगर उनके शौहर सुधार का इरादा रखते हों, तो इस मुद्दत में वे उनको फेर लेने के ज़्यादा हक़दार होंगे।" —अल-बक़रः २२८

इसके साथ यह हुक्म है कि तीन महीने की इस मुद्दत में औरत को अपने घर से भेज न दो, बल्कि अपने साथ रखो। मुम्किन है कि साथ रहने व बसने से दिल मिलने की कोई शक्ल निकल आए।

---

१. बेहतर तरीक़ा यह है कि तीसरी बार तलाक़ न दी जाए, बल्कि यों ही इद्दत गुज़र जाने दी जाए। इस स्थिति में यह मौक़ा बाक़ी रहता है कि अगर ये जोड़े आपस में निकाह करना चाहें, तो दोबारा उनका निकाह हो सकता है, लेकिन तीसरी बार तलाक़ देने से तलाक़े मुग़ल्लज़ हो जाती है, जिसके बाद हलाला किये बिना पूर्व पति-पत्नी का एक-दूसरे से निकाह नहीं हो सकता। अफ़सोस यह है कि लोग आमतौर से इस मसूअले को नहीं जानते और जब तलाक़ देने पर आते हैं, तो छूटते ही तलाक़ दे डालते हैं, बाद में पछताते हैं और मुफ़्तियों से बचने के तरीक़े पूछते हैं।

"जब तुम औरतों को तलाक़ दो तो इद्दत की मुद्दत में रुजू की गुंजाइश रखते हुए तलाक़ दो और इद्दत का ज़माना गिनते रहो और अल्लाह से डरो और उनको घरों से निकाल न दो और न वे ख़ुद निकलें अलावा इस शक्ल में कि वे किसी खुली बदकारी की शिकार हुई हों। ये अल्लाह की हदें हैं और जो अल्लाह की हदों से आगे बढ़ेगा, वह ख़ुद अपने आप पर ज़ुल्म करेगा। तुझको क्या ख़बर कि अल्लाह इसके बाद सुधार की कोई शक्ल पैदा कर दे, फिर जब वे निश्चित समय के अन्त को पहुंचने लगें, तो या उनको भले तरीक़े से रोक लो, या भले तरीक़े से जुदा हो जाओ।"
—अत-तलाक : १-२

फिर माहवारी की हालत में भी तलाक़ देने से मना किया गया है और हुक्म दिया गया है कि तलाक़ देना हो, तो तुहर (पाकी) की हालत में दो। इस क़ैद में दो वजहें हैं—

एक यह कि माहवारी की हालत में आम तौर से औरतें चिड़चिड़ी और बदमिज़ाज हो जाती हैं और उनकी दैहिक व्यवस्था में कुछ ऐसा परिवर्तन हो जाता है कि अनजाने में उनसे वे सारी बातें होने लगती हैं, जिन्हें आम हालात में वे ख़ुद नहीं पसन्द करतीं। यह एक जैविक तथ्य है। इसलिए माहवारी के समय में पति और पत्नी में जो झगड़ा हो जाए, उसपर तलाक़ देने से मना कर दिया गया है।

दूसरी वजह यह है कि इस स्थिति में पति-पत्नी के बीच वह दैहिक सम्बन्ध नहीं होता, जो उनकी आपसी दिलचस्पी और मिलन का एक अहम साधन है। इस ज़माने में दोनों के बीच बदमज़गी का पैदा हो जाना असंभव नहीं है। यह रुकावट दूर हो जाने के बाद आशा की जा सकती है कि शायद कोमल भावनाएं दम्पति को फिर आपस में

घुला-मिला दें और वह गुबार दूर हो जाए, जो पति को तलाक़ पर तैयार कर रहा था। इन्हीं कारणों से नबी करीम सल्ल० ने माहवारी की स्थिति में तलाक़ देने से मना फ़रमाया है, चुनांचे हदीस में है कि अब्दुल्लाह बिन उमर रज़ि० ने अपनी बीवी को माहवारी के ज़माने में तलाक़ दे दी। हज़रत उमर रज़ि० ने अल्लाह के रसूल सल्ल० की ख़िदमत में अर्ज़ किया। आप सुन कर बिगड़े और फ़रमाया कि उसे हुक्म दे दो कि रुजू करे और जब वह माहवारी से पाक हो जाए, तब तलाक़ दे।

एक हदीस से मालूम होता है कि अल्लाह के रसूल सल्ल० ने हज़रत अब्दुल्लाह बिन उमर रज़ि० को इस बात पर डांटा और तलाक़ के तरीक़े की तालीम इस तरह दी—

"इब्ने उमर! तुमने ग़लत तरीक़ा अपनाया। सही तरीक़ा यह है कि तुहर का इंतिज़ार करो, फिर एक-एक तुहर पर एक तलाक़ दो, फिर जब वह तीसरी बार पाक हो, तो उस वक़्त या तलाक़ दे दो या उस को रोक लो।"

हज़रत इब्ने उमर रज़ि० ने अर्ज़ किया —

"ऐ अल्लाह के रसूल सल्ल०! अगर मैं उस को तीन तलाक़ दे देता, तो क्या मुझे रुजू का हक़ बाक़ी रहता?"

हुज़ूर सल्ल० ने फ़रमाया—

"नहीं, वह जुदा हो जाती और यह गुनाह होता।"

इससे एक और बात मालूम हुई, वह यह है कि एक ही वक़्त में तीन तलाक़ देना गुनाह है। असल में यह काम इस्लामी शरीअत की अहम मस्लहतों के ख़िलाफ़ है और इससे अल्लाह की वे हदें टूटती हैं,

जिन के आदर का सूरः तलाक़ में कड़ा ताकीदी हुक्म दिया गया है।[1]

हज़रत उमर बिन ख़त्ताब रज़ि० के बारे में नक़ल किया गया है कि जो व्यक्ति एक ही मज़्लिस में तीन तलाक़ देने वाला उनके पास आता, वह उसको मारते थे और उसके बाद दम्पति को जुदा कर देते थे।

हज़रत इब्ने अब्बास रज़ि० से पूछा गया कि एक आदमी ने अपनी बीवी को एक ही वक़्त में तीन तलाक़ें दी हैं। इसका क्या हुक्म है? आपने फ़रमाया कि उसने अपने पालनहार की नाफ़रमानी की और उसकी औरत उससे जुदा हो गयी।

हज़रत अली रज़ि० फ़रमाते हैं –

"अगर लोग तलाक़ की ठीक-ठीक हदों पर ध्यान देते, तो किसी व्यक्ति को अपनी बीवी के जुदा होने पर शर्मिंदा न होना पड़ता।"

तलाक़ में इतनी रुकावटें डालने के बाद आख़िरी और सख़्त रुकावट यह डाली गयी कि जो आदमी किसी औरत को तलाक़े मुग़ल्लज़ा[2] दे चुका हो, वह औरत से दोबारा निकाह नहीं कर सकता,

---

१. जैसा कि अभी थोड़ी देर पहले बयान कर आये हैं, शरीअत का मंशा तो यह है कि जो दाम्पत्य संबंध एक बार एक औरत और एक मर्द के बीच क़ायम हो गया, उसे जहां तक संभव हो बाक़ी रखा जाए और अगर तोड़ा भी जाए, तो उस वक़्त, जबकि निबाह और समझौते की तमाम संभावनाएं ख़त्म हो चुकी हों। इस कारण शरीअत चाहती है कि जो व्यक्ति भी तलाक़ दे, ख़ूब सोच-समझ कर दे और तलाक़ देने पर भी सुलह-सफ़ाई का दरवाज़ा तीन महीने तक खुला रखे, पर जो आदमी एक ही वक़्त में तीन तलाक़ देता है, वह उन तमाम मस्लहतों को एक ही बार में काट फेंकता है।

२. अर्थात तीन तलाक़, जिसके बाद औरत दोबारा उस शौहर के निकाह में नहीं आ सकती, जब तक कि उसका निकाह किसी और आदमी से होकर जुदाई न हो जाए।

जब तक कि वह औरत एक दूसरे व्यक्ति से निकाह न कर ले और वह दूसरा मर्द उससे मज़ा उठाने के बाद राज़ी-खुशी से उसे तलाक़ न दे। क़ुरआन में है—

> "फिर अगर वह उसको तीसरी बार तलाक़ दे दे, तो वह औरत उसके लिए हलाल नहीं हो सकती, जब तक कि वह औरत एक दूसरे मर्द से निकाह न करे।" —अलबक़र : २३०

यह एक ऐसी कड़ी शर्त है, जिसकी वजह से एक आदमी अपनी बीवी को तलाक़ देने से पहले सौ बार सोचेगा और उस वक़्त तक तलाक़ न देगा, जब तक कि वह इस बात का क़तई फ़ैसला न कर ले कि उसे इस औरत के साथ निबाह करना ही नहीं है।

कुछ लोगों ने इस शर्त से बचने के लिए यह बहाना निकाला है कि जिस औरत को तीन बार तलाक़ देने के बाद कोई व्यक्ति शर्मिंदा हो और उससे निकाह करना चाहे, तो वह उस औरत का निकाह किसी दूसरे व्यक्ति से करा दे और फिर कुछ दे-दिला कर उस को सहवास से पहले तलाक़ दिलवा दे। लेकिन नबी सल्ल० ने साफ़ स्पष्ट कर दिया है कि हलाला के लिए केवल दूसरा निकाह ही काफ़ी नहीं है, बल्कि औरत उस वक़्त तक पहले शौहर के लिए हलाल नहीं हो सकती, जब तक कि दूसरा शौहर उससे सहवास का स्वाद न चख ले।

फिर जो व्यक्ति मात्र अपनी तलाक़शुदा औरत को अपने लिए हलाल करने के ख़ातिर किसी से उसका निकाह कराये और जो इस उद्देश्य से निकाह करे, उन दोनों पर अल्लाह के रसूल सल्ल० ने लानत फ़रमायी है और ऐसे व्यक्ति को आप 'किराए का सांड' की उपमा देते हैं। वास्तव में इस तरह के निकाह और ज़िना में कोई अन्तर नहीं। हैरत तो उस उलेमा पर होती है, जो इस खुले हराम और बहुत ग़लत और शर्मनाक हीले का फ़त्वा लोगों को देते हैं।

खुलअ़

इस्लामी शरीअत ने जिस तरह मर्द को यह हक़ दिया है कि जिस औरत को वह नापसंद करता है और जिसके साथ वह किसी तरह निबाह नहीं कर सकता, उसे तलाक़ दे दे, इसी तरह औरत को भी यह हक़ दिया है कि जिस मर्द को वह नापसंद करती हो और किसी तरह उसके साथ गुज़र-बसर न कर सकती हो, उससे खुलअ़ हासिल कर ले। इस बारे में शरीअत के हुक्मों के दो पहलू हैं–

एक पहलू नैतिक है और दूसरा क़ानूनी।

नैतिक पहलू यह है कि चाहे मर्द हो या औरत, हर एक को तलाक़ या खुलअ़ का अधिकार केवल एक आख़िरी रास्ते के तौर पर इस्तेमाल करना चाहिए, न यह कि मात्र वासनाओं की तसल्ली के लिए तलाक़ व खुलअ़ को खेल बना लिया जाए। चुनांचे हदीसों में नबी सल्ल० के इर्शाद नक़ल किये गये हैं कि –

"अल्लाह मज़े चखने वालों और मज़े चखने वालियों को पसन्द नहीं करता।"

"हर स्वाद लेकर अधिक तलाक़ देने वाले पर अल्लाह ने लानत की है।"

"जिस किसी औरत ने अपने शौहर से उसकी किसी ज़्यादती के बिना खुलअ़ किया, उसपर अल्लाह और फ़रिश्तों और सब लोगों की लानत होगी।"

"ख़ुलअ़ को खेल बना लेने वाली औरतें मुनाफ़िक़ हैं।"

लेकिन क़ानून, जिसका काम व्यक्तियों के अधिकारों को निश्चित करना है, इस पहलू से बहस नहीं करता। वह जिस तरह मर्द को शौहर होने की हैसियत से तलाक़ का हक़ देता है, उसी तरह औरत

को भी बीवी होने की हैसियत से खुलअ़ का हक़ देता है, ताकि दोनों के लिए ज़रूरत के वक़्त विवाह के बंधन से मुक्ति प्राप्त करना संभव हो और कोई फ़रीक़ भी ऐसी हालत में डाल न दिया जाए कि दिल में नफ़रत है, विवाह के उद्देश्य पूरे नहीं होते, दाम्पत्य संबंध एक मुसीबत बन गया है, पर जबरन एक दूसरे के साथ सिर्फ़ इस लिए बंधे हुए हैं कि इस पकड़ से आज़ाद होने की कोई शक्ल नहीं। रहा यह सवाल कि दोनों में से कोई फ़रीक़ अपने अधिकारों को अनुचित रूप से इस्तेमाल करेगा, तो इस बारे में क़ानून जहां तक संभव और उचित है, पाबंदियां लगा देता है, पर हक़ के बजा या बेजा इस्तेमाल करने का आश्रय बड़ी हद तक खुद इस्तेमाल करने वाले के स्वाधिकार और उसकी दयानत और खुदातरसी पर है। उसके और खुदा के सिवा कोई भी यह फ़ैसला नहीं कर सकता कि वह मात्र मज़ा चखने की तलब रखने वाला है या सच में इस हक़ के इस्तेमाल की जायज़ ज़रूरत रखता है। क़ानून उसका स्वाभाविक हक़ उसे देने के बाद उसको बेजा इस्तेमाल से रोकने के लिए सिर्फ़ ज़रूरी पाबंदियां उस पर लगा सकता है, चुनांचे तलाक़ की बहस में आप देख चुके हैं कि मर्द को औरत से अलगाव का अधिकार देने के साथ उसपर अनेक पाबंदियां लगा दी गयी हैं, जैसे यह कि जो महर उसने औरत को दिया था, उसका नुक़सान गवारा करे। माहवारी के समय में तलाक़ न दे, तीन तुहरों में एक-एक तलाक़ दे, औरत को इद्दत के ज़माने में अपने साथ रखे और जब तीन तलाक़ दे चुके, तो फिर वह औरत हलाला के बिना दोबारा उसके निकाह में न आ सके। इसी तरह औरत को भी खुलअ़ का हक़ देने के साथ कुछ क़ैदें लगा दी गयी हैं, जिनको क़ुरआन मजीद इस छोटी-सी-आयत में स्पष्ट रूप से बयान कर देता है—

"तुम्हारे लिये हलाल नहीं है कि जो कुछ तुम बीवियों को दे चुके हो, उसमें से कुछ भी वापस लो, अलावा इसके कि पति-पत्नी को

यह डर हो कि अल्लाह की हदों पर क़ायम न रह सकेंगे, तो ऐसी सूरत में जब कि तुमको डर हो कि पति-पत्नी अल्लाह की हदों में क़ायम न रह सकेंगे, कुछ हरज नहीं, अगर औरत कुछ मुआवज़ा देकर विवाह-बंधन से आज़ादी हासिल कर ले।"

—अल-बक़र: २२९

इस आयत से निम्न हुक्म निकलते हैं :—

१. खुलअ़ ऐसी हालत में होना चाहिए, जबकि अल्लाह की हदों के टूट जाने का डर हो। 'तुम दोनों के लिए कोई हरज नहीं' शब्दों से पता चलता है कि अगरचे खुलअ़ बुरी चीज़ है, जिस तरह कि तलाक़ बुरी चीज़ है, लेकिन जब यह डर हो कि अल्लाह की हदें टूट जाएंगी, तो खुलअ़ कर लेने में कोई बुराई नहीं।

२. जब औरत निकाह-बंधन से आज़ाद होना चाहे, तो वह भी इसी तरह माल की क़ुरबानी गवारा करे, जिस तरह मर्द को अपनी इच्छा से तलाक़ देने की स्थिति में गवारा करनी पड़ती है। मर्द अगर ख़ुद तलाक़ दे, तो वह उस माल में से कुछ नहीं वापस ले सकता, जो उसने औरत को दिया था और अगर औरत जुदाई की इच्छा करे, तो वह इस माल का एक हिस्सा या पूरा माल वापस कर के अलग हो सकती है, जो उसने शौहर से लिया था।

३. इफ़्तिदा (अर्थात मुआवज़ा देकर रिहाई हासिल करने) के लिए मात्र फ़िदया देने वाले का चाहना काफ़ी नहीं है, बल्कि इस मामले पर ध्यान उस समय दिया जाता है, जबकि फ़िदया लेने वाला भी राज़ी हो। उद्देश्य यह है कि औरत सिर्फ़ माल की एक मात्रा पेश कर के आप से आप अलग नहीं हो सकती, बल्कि अलगाव के लिए ज़रूरी है कि जो माल वह पेश कर रही है, उसको शौहर क़ुबूल कर के तलाक़ दे दे।

४. खुलअ़ के लिए सिर्फ़ इतना काफ़ी है कि औरत अपना पूरा महर या उसका एक हिस्सा पेश कर के अलगाव की मांग करे और मर्द उसको क़ुबूल कर के तलाक़ दे दे। क़ुरआन के शब्दों से यही दलील मिलती है कि खुलअ़ का काम दोनों फ़रीक़ की रज़ामंदी से पूरा हो जाता है। इससे उन लोगों के विचारों का खंडन होता है, जो खुलअ़ के लिए अदालती फ़ैसले को शर्त क़रार देते हैं। जो मामला घर में तय हो सकता हो, इस्लाम उसे अदालत में ले जाना कदापि पसन्द नहीं करता।

५. अगर औरत फ़िदया पेश करे और मर्द क़ुबूल न करे, तो इस स्थिति में औरत को अदालत से रुजू करने का हक़ है, जैसा कि क़ुरआन की आयत से ज़ाहिर है। इस आयत में सम्बोधन मुसलमानों के अधिकारों की ओर ही है। चूंकि अधिकारियों का प्रथम कर्तव्य अल्लाह की सीमाओं की रक्षा है, इसलिए उनपर अनिवार्य होगा कि जब अल्लाह की सीमाओं के टूटने का भय मालूम हो जाए, तो औरत को उसका वह हक़ दिलवा दें जो उन्हीं हदों की रक्षा के लिए अल्लाह ने उस को दे रखा है।

ये कुछ हुक्म हैं, जिनमें यह बात स्पष्ट नहीं है कि अल्लाह की हदों के टूट जाने का डर किन शक्लों में साबित होगा? फ़िदए की मात्रा तय करने में न्याय क्या है? और अगर औरत फ़िदया देने पर तैयार हो, लेकिन मर्द क़ुबूल न करे, तो ऐसी स्थिति में क़ाज़ी को क्या तरीक़ा अपनाना चाहिए? इन बातों का विस्तृत विवेचन हमको खुलअ़ के उन मुक़दमों की रिपोर्ट में मिलता है, जो नबी सल्ल० और खुलफ़ा-ए-राशिदीन के सामने पेश हुए थे।

खुलअ़ के बारे में शुरू के दौर की नज़ीरें

खुलअ़ का सब से मशहूर मुक़दमा वह है, जिसमें साबित बिन

क़ैस रज़ि० से उनकी बीवियों ने ख़ुलअ़ हासिल किया है। इस मुक़दमें की रिपोर्ट के विभिन्न टुकड़े हदीसों में आए हैं, जिनको मिला कर देखने से मालूम होता है कि साबित रज़ि० से उनकी दो बीवियों ने ख़ुलअ़ हासिल किया था।

एक बीवी जमीला बिन्त अबीसलूल (अब्दुल्लाह बिन उबई की बहन[1]) का क़िस्सा यह है कि उन्हें साबित की शक्ल नापसन्द थी। उन्होंने नबी सल्ल० के पास ख़ुलअ़ के लिए मुक़दमा किया और इन शब्दों में अपनी शिकायत पेश की

"ऐ अल्लाह के रसूल सल्ल० ! मेरे और इसके सिरे को कोई चीज़ कभी जमा नहीं कर सकती। मैंने अपना घूंघट जो उठाया, तो वह सामने से कुछ आदमियों के साथ आ रहा था। मैंने देखा कि वह उनमें सबसे ज़्यादा काला और सब से ज़्यादा पस्ता क़द और सब से ज़्यादा कुरूप था।" —इब्ने जरीर

"ख़ुदा की क़सम ! मैं दीन (धर्म) या अख़्लाक़ (चरित्र) की किसी ख़राबी की वजह से उसको नापसन्द नहीं करती, बल्कि मुझे उस की कुरूपता नापसंद है।" —इब्ने जरीर

"ख़ुदा की क़सम ! अगर ख़ुदा का भय न होता, तो जब वह मेरे पास आया था, उस वक़्त मैं उस के मुंह पर थूक देती।"—इब्ने जरीर

"ऐ अल्लाह के रसूल ! मैं जैसी ख़ूबसूरत हूँ, आप देखतें हैं और साबित एक बदसूरत आदमी है।"

—अब्दुर्रज़्ज़ाक़, फ़त्हुलबारी के हवाले से

---

१. कुछ ने ज़ैनब बिन्त अब्दुल्लाह बिन उबई कहा है, पर मशहूर यही है कि उनका नाम जमीला था और अब्दुल्लाह बिन उबई की बेटी नहीं, बल्कि बहन थीं।

"मैं उसके दीन और अख़्लाक़ पर कोई उंगली नहीं उठाती, पर मुझे इस्लाम में कुफ़्र का डर है।" —बुख़ारी

नबी सल्ल० ने यह शिकायत सुनी और फ़रमाया, "जो बाग़ तुझ को उसने दिया था, वह तू वापस कर देगी?"

उसने अर्ज़ किया, "हां, ऐ अल्लाह के रसूल! बल्कि वह ज़्यादा भी चाहे, तो ज़्यादा भी दूंगी।"

हुज़ूर सल्ल० ने फ़रमाया, "ज़्यादा तो नहीं, पर तू उसका बाग़ वापस कर दे।"

फिर साबित रज़ि० को हुक्म दिया, 'बाग़ क़ुबूल कर ले और उसको एक तलाक़ दे दे।'

साबित रज़ि० की एक और बीवी हबीबा बिन्त सह्ल अंसारिया थीं, जिनका वाक़िया इमाम मालिक रह० और अबू दाऊद ने इस तरह नक़ल किया है कि एक दिन सुबह-सबेरे हुज़ूर सल्ल० अपने मकान से बाहर निकले, तो हबीबा रज़ि० को खड़ा पाया। पूछा, "क्या मामला है?"

---

१. इस्लाम में कुफ़्र के भय से तात्पर्य यह है कि घृणा और अप्रियता के बावजूद अगर मैं उसके साथ रही, तो मुझे डर है कि मैं उन आदेशों का पालन न कर सकूंगी, जो शौहर की बात मानने और उसकी वफ़ादारी और उसके सतीत्व की रक्षा के लिए अल्लाह और रसूल ने दिये हैं। यह एक ईमान वाली औरत का विचार है कि अल्लाह की सीमाओं को तोड़ने को वह कुफ़्र समझती है और आजकल मौलवियों का विचार यह है कि अगर नमाज़, रोज़ा, हज, ज़कात कुछ भी अदा न किया जाए और खुल्लमखुल्ला नाफ़रमानी और गुनाह का काम करें, तब भी वह इस हालत को एक ईमानी हालत कहने पर आग्रह करते हैं और ऐसे लोगों को जन्नत की ख़ुशख़बरियां देते हैं और जो इसे ग़ैर-ईमानी हालत कहे उसे ख़ारजी ठहराते हैं।

उन्होंने अर्ज़ किया, "मेरी और साबित की नहीं निभ सकती।"

जब साबित (रज़ि०) हाज़िर हुए, तो हुजूर सल्ल० ने फ़र--माया "यह हबीबा बिन्त सह्ल है। उसने बयान किया जो कुछ अल्लाह ने चाहा कि बयान करे।"

हबीबा ने अर्ज़ किया, "ऐ अल्लाह के रसूल! जो कुछ साबित ने मुझे दिया है, वह सब मेरे पास है।"

हुजूर सल्ल० ने साबित (रज़ि०) को हुक्म दिया कि वह और ले ले उसको छोड़ दे।

कुछ रिवायतों में 'उसका रास्ता ख़ाली कर दे' के शब्द हैं और कुछ में 'उसे अलग कर दे' के शब्द हैं। दोनों का अर्थ एक ही है।

अबू दाऊद और इब्ने जरीर ने हज़रत आइशा रज़ि० से इस वाक़िये को इस तरह रिवायत किया है कि साबित ने हबीबा को इतना मारा था कि उनकी हड्डी टूट गयी थी। हबीबा ने आकर हुज़ूर सल्ल० से शिकायत की। आपने साबित को हुक्म दिया कि 'उस के माल का एक हिस्सा ले ले और अलग हो जा।'

पर इब्नेमाजा ने हबीबा के जो शब्द नक़ल किये हैं, उनसे मालूम होता है कि हबीबा ने भी साबित के ख़िलाफ़ जो शिकायत की थी, वह मार-पीट की नहीं, बल्कि बदसूरती की थी, चुनांचे उन्होंने वही शब्द कहे, जो हदीसों में जमीला से नक़ल किये गये हैं अर्थात् अगर मुझे ख़ुदा का डर न होता, तो साबित के मुंह पर थूक देती।

हज़रत उमर रज़ि० के सामने एक औरत और एक मर्द का मुक़द्मा पेश हुआ। आपने औरत को नसीहत की और शौहर के साथ

रहने का मशिवरा दिया। औरत ने कुबूल न किया। इस पर आपने उसे एक कोठरी में बन्द कर दिया, जिस में कूड़ा-करकट भरा हुआ था। तीन दिन क़ैद रखने के बाद आपने उसे निकाला और पूछा "तेरा क्या हाल रहा?" उसने कहा, "ख़ुदा की क़सम! मुझ को इन्हीं रातों में राहत नसीब हुई है।" यह सुन कर हज़रत उमर रज़ि० ने उस के शौहर को हुक्म दिया "उसको ख़ुलअ़ दे दे, भले ही वह उसके कान की बालियों के बदले में हो।"[1]

रबीअ बिन्त मुअ़व्वज़ बिन अफ़रा ने अपने शौहर से अपनी तमाम मिल्कियतों के मुआवज़े में ख़ुलअ़ हासिल करना चाहा, शौहर ने न माना। हज़रत उस्मान रज़ि० के पास मुक़दमा पेश हुआ। हज़रत उस्मान रज़ि० ने उसको हुक्म दिया कि उसकी चोटी के बाल तक ले ले और उसको ख़ुलअ़ दे दे।[2]

ख़ुलअ़ के हुक्म

इन रिवायतों से नीचे लिखी बातों पर रोशनी पड़ती है :—

१. 'तो अगर तुम्हें डर हो कि वे दोनों अल्लाह की हदों को क़ायम न रख सकेंगे' कि व्याख्या वे शिकायतें हैं, जो साबित बिन क़ैस रज़ि० की बीवियों से नक़ल की गयी हैं। नबी सल्ल० ने उन औरतों की इस शिकायत को ख़ुलअ़ के लिए काफ़ी समझा कि उनका शौहर बदसूरत है और उन को पसन्द नहीं है। आपने उनको ख़ूबसूरती के दर्शन पर कोई भाषण न दिया, क्योंकि आप की नज़र शरीअत के उद्देश्यों पर थी। जब यह मामला साबित हो गया कि इन औरतों के दिल में शौहर की ओर से घृणा और अप्रियता बैठ चुकी है, तो आपने उनकी दर्ख़ास्त

---

१. कश्फ़ुल ग़ुम्मः, भाग २

२. अब्दुर्रज़्ज़ाक़ (फ़त्हुलबारी के हवाले से)

को क़बूल कर लिया, क्योंकि घृणा और अप्रियता के साथ एक मर्द और औरत को ज़बरदस्ती एक-दूसरे से बांध रखने के नतीजे, दीन-धर्म, चरित्र और संस्कृति के लिए तलाक़ और ख़ुलअ़ से ज़्यादा ख़राब हैं। इनसे शरीअत के मक़्सद ही के समाप्त हो जाने का डर है। अत: नबी सल्ल० के अमल से यह नियम निकलता है कि खुलअ़ का हुक्म लागू करने के लिए केवल इस बात का साबित हो जाना काफ़ी है कि औरत अपने शौहर को क़तई नापसन्द करती है और उसके साथ रहना नहीं चाहती।

२. हज़रत उमर रज़ि० के कार्य से मालूम होता है कि घृणा और अप्रियता की खोज के लिए शरीअत का क़ाज़ी कोई उचित उपाय अपना सकता है, ताकि किसी संदेह की गुंजाइश न रहे और यक़ीन के साथ मालूम हो जाए कि इस जोड़े में अब निबाह होने की उम्मीद नहीं है।

३. हज़रत उमर रज़ि० के कार्य से यह भी साबित होता है कि घृणा और अप्रियता के कारणों का खोज लगाना ज़रूरी नहीं है और यह एक उचित बात है। औरत को अपने शौहर से बहुत से ऐसे कारणों के आधार पर घृणा हो सकती है, जिनको किसी के सामने बयान नहीं किया जा सकता। ऐसे कारण भी घृणा के हो सकते हैं, जिनको अगर बयान किया जाए, तो सुनने वाला घृणा के लिए काफ़ी न समझेगा, लेकिन जिसको इन कारणों से रात-दिन वास्ता पेश आता है, उसके दिल में घृणा पैदा करने के लिए वे काफ़ी होते हैं, इस लिए क़ाज़ी का काम सिर्फ़ इस बात की खोज लगाना होता है कि औरत के मन में शौहर से नफ़रत पैदा हो चुकी है। यह फ़ैसला करना उसका काम नहीं है कि जो कारण औरत बयान कर रही है, वे घृणा के लिए काफ़ी हैं या नहीं।

४. क़ाज़ी औरत को उपदेश देकर शौहर के साथ रहने के लिए राज़ी करने की कोशिश ज़रूर कर सकता है, पर उसकी इच्छा के विपरीत उसे मजबूर नहीं कर सकता, क्योंकि खुलअ़ उसका हक़ है, जो खुदा ने उसको दिया है और अगर वह इस बात का डर ज़ाहिर करती है कि अपने शौहर के साथ रहने में वह अल्लाह की हदों पर क़ायम न रह सकेगी, तो किसी को उससे यह कहने का हक़ नहीं कि तू चाहे अल्लाह की हदों को तोड़ दे, पर उस ख़ास मर्द के साथ बहरहाल तुझ को रहना पड़ेगा।

५. खुलअ़ के मस्अले में असल में यह सवाल क़ाज़ी के लिए स्पष्ट होने का है ही नहीं कि औरत जायज़ ज़रूरत की वजह से खुलअ़ चाहती है या मात्र मनोकामना की पूर्ति के लिए अलगाव चाहती है। इसीलिए नबी सल्ल० और खुलफ़ा-ए-राशिदीन ने क़ाज़ी होने की हैसियत से जब खुलअ़ के मुक़दमों को सुना, तो इस सवाल को बिल्कुल नज़रंदाज़ कर दिया, क्योंकि एक तो इस सवाल का हक़ पूरा करने के तौर पर खोज करना किसी क़ाज़ी के बस का काम नहीं। दूसरे खुलअ़ का हक़ औरत के लिए उस हक़ के मुक़ाबले में है, जो मर्द को तलाक़ की शक्ल में दिया गया है। मज़ा लेने की बात दोनों स्थितियों में समान रूप से हो सकती है, पर तलाक़ के हक़ को क़ानून में इस क़ैद के साथ नहीं लिया गया है कि वह मज़ा लेने के लिए इस्तेमाल न किया जाए। अतः जहां तक क़ानूनी हक़ का ताल्लुक़ है, औरत के खुलअ़ के हक़ को भी किसी नैतिक क़ैद से न जोड़ा जाए। तीसरी बात यह है कि खुलअ़ चाहने वाली औरत दो हाल से ख़ाली न होगी, या वह वास्तव में खुलअ़ की जायज़ ज़रूरत रखती होगी या सिर्फ़ मज़ा लूटने वाली होगी। अगर पहली स्थिति है, तो उसकी मांग को रद्द करना ज़ुल्म होगा और अगर दूसरी स्थिति है तो उसको खुलअ़ न दिलवाने से शरीअत के अहम मक़्सद ख़त्म हो जाएंगे, इस लिए कि जो औरत स्वभावतः मज़ा

लूटने वाली है, वह तो अपनी रुचि को पूरा करने के लिए कोई न कोई उपाय कर के रहेगी, अगर आप उसको जायज़ तरीक़े से ऐसा न करने देंगे, तो वह नाजायज़ तरीक़ों से अपनी प्रकृति की मांगों को पूरा करेगी और यह ज़्यादा बुरा होगा। एक औरत का पचास शौहरों को एक-एक करके बदलना इससे कहीं बेहतर है कि वह किसी व्यक्ति के निकाह में रहते हुए एक बार भी ज़िना कर बैठे।

६. अगर औरत ख़ुलअ़ मांगे और शौहर उसपर राज़ी न हो, तो क़ाज़ी उसको हुक्म देगा कि उसे छोड़ दे। तमाम रिवायतों में यही आया है कि अल्लाह के रसूल सल्ल० और ख़ुलफ़ा-ए-राशिदीन ने ऐसी स्थिति में माल क़ुबूल कर के औरत को छोड़ देने का हुक्म दिया है और क़ाज़ी का हुक्म बहरहाल यही अर्थ रखता है कि जिसको हुक्म दिया गया है, वह उसे पूरा करने का पाबंद है, यहां तक कि अगर वह पूरा न करे, तो क़ाज़ी उसको क़ैद कर सकता है। शरीअत में क़ाज़ी की हैसियत केवल एक मशिवरा देने वाले की नहीं है कि उसका हुक्म सिर्फ़ मशिवरे के दर्जे में हो और जिसे हुक्म दिया गया है, उसे उसके मानने या न मानने का अख़्तियार हो। क़ाज़ी की अगर यह हैसियत हो तो लोगों के लिए उसकी अदालत का दरवाज़ा खुला होना एक निरर्थक बात है।

७. ख़ुलअ़ का हुक्म नबी सल्ल० के स्पष्टीकरण के मुताबिक़ एक बाइन तलाक़ का हैं, अर्थात् उसके बाद इद्दत के ज़माने में शौहर को रुजू का हक़ न होगा, क्योंकि रुजू का हक़ बाक़ी रहने से ख़ुलअ़ का मक़्सद ही पूरा नहीं होता है, साथ ही चूंकि औरत ने जो माल उसको दिया है, वह निकाह-बंधन से अपने छुटकारा के मुआवज़े में दिया है, इसलिए अगर शौहर मुआवज़ा ले ले और उसको छुटकारा न दे, तो यह फ़रेब और दग़ा होगी, जिसको शरीअत जायज़ नहीं रख सकती। हां, अगर औरत दोबारा उसके साथ निकाह करना चाहे, तो कर

सकती है, क्योंकि यह तलाक़े मुग़ल्लज़ा नहीं है, जिसके बाद दोबारा निकाह करने के लिए हलाला शर्त हो।

८. खुलअ के मुआवज़े के निश्चित करने में अल्लाह ने कोई क़ैद नहीं लगायी है। जितने मुआवज़े पर भी दम्पति राज़ी हो जाएं, उस पर खुलअ् हो सकता है, लेकिन नबी सल्ल० ने इसको नापसन्द किया कि शौहर खुलअ् के मुआवज़े में अपने दिये हुए महर से ज़्यादा माल ले। आपका इर्शाद है—

"मर्द ख़ुलअ् चाहने वाली से अपने दिये हुए माल से ज़्यादा न ले।"

हज़रत अली रज़ि० ने भी स्पष्ट शब्दों में उसको मक्रूह (अप्रिय) फ़रमाया है —

"इज्तिहाद से काम लेने वाले विद्वान भी इस पर सहमत हैं, बल्कि अगर औरत अपने शौहर के ज़ुल्म की वजह से खुलअ् की मांग करे, तो शौहर के लिए सिरे से माल ही लेना मक्रूह है, जैसा कि हिदाया में है।"

इन स्पष्टीकरणों को देखते हुए इस बारे में शरीअत के नियमों के मातहत यह क़ानून बनाया जा सकता है कि अगर खुलअ् मांगने वाली औरत अपने शौहर का ज़ुल्म साबित कर दे या खुलअ् के लिए ऐसी वजहें ज़ाहिर करे जो क़ाज़ी के नज़दीक उचित हों, तो उस को महर के एक थोड़े हिस्से या आधे की वापसी पर खुलअ् दिलाया जाए और अगर वह न शौहर का ज़ुल्म साबित करे, न कोई उचित कारण बताए, तो उसके लिए पूरा महर या उसका एक बड़ा हिस्सा वापस करना ज़रूरी क़रार दिया जाए, लेकिन अगर उसके रवैए में क़ाज़ी को मज़ा लूटने के चिह्न दिखायी पड़ें, तो क़ाज़ी सज़ा के तौर पर उसको महर से भी कुछ ज़्यादा देने पर मजबूर कर सकता है।

खुलअ़ के बारे में एक बुनियादी ग़लती

खुलअ़ की इस वार्ता से यह वास्तविकता खुल कर सामने आ जाती है कि इस्लामी क़ानून में औरत और मर्द के अधिकारों के बीच जितना सही सन्तुलन स्थापित किया गया था, अब यह हमारी अपनी ग़लती है कि हमने अपनी औरतों से खुलअ़ के अधिकार को व्यावहारिक रूप से छीन लिया और शरीअत के नियम के ख़िलाफ़ ख़ुलअ़ देने या न देने को बिल्कुल मर्दों की इच्छा पर निर्भर कर दिया। इससे औरतों के जो अधिकार छीने गये या छीने जा रहे हैं, उनकी ज़िम्मेदारी खुदा और रसूल के क़ानून पर बिल्कुल नहीं है। अगर अब भी औरतों के इस अधिकार को बहाल कर दिया जाए, तो वे बहुत सी गुत्थियां सुलझ जाएं जो हमारे दाम्पत्य मामलों में पैदा हो गयी हैं बल्कि गुत्थियों का पैदा होना ही बन्द हो जाए।

औरत से खुलअ़ के अधिकार को जिस चीज़ ने व्यावहारिक रूप से बिल्कुल छीन लिया है, वह यह ग़लत विचार है कि शारेअ ने खुलअ़ का मामला पूर्ण रूप से पति-पत्नी के बीच रखा है और उसमें हस्तक्षेप करना क़ाज़ी के अधिकार-क्षेत्र से बाहर है। इसका नतीजा यह है कि खुलअ़ देना या न देना बिल्कुल मर्द की मर्ज़ी पर आश्रित हो गया है। अगर औरत खुलअ़ हासिल करना चाहे और मर्द अपनी शरारत या स्वार्थपरता से न देना चाहे, तो औरत के लिए कोई रास्ता नहीं रह जाता, किन्तु यह बात शारेअ़ की मंशा के बिल्कुल ख़िलाफ़ है। शारेअ़ का यह मंशा कदापि न था कि निकाह के मामले के एक फ़रीक़ को बिल्कुल बेबस करके दूसरे फ़रीक़ के हाथ में दे दे। अगर ऐसा होता तो वे उच्च नैतिक और सांस्कृतिक उद्देश्य ख़त्म हो जाते, जो उसने विवाह के साथ जोड़ दिये हैं।

जैसा कि इससे पहले बयान किया जा चुका है, इस्लामी शरीअत

में दाम्पत्य क़ानून की नींव ही इस मूल चीज़ पर रखी गयी है कि औरत और मर्द का दाम्पत्य सम्बन्ध जब तक स्वस्थ चरित्र और दया-कृपा के साथ क़ायम रह सकता हो, उसका सुदृढ़ बनाना पसंदीदा और ज़रूरी है और उसको तोड़ना या तोड़वाने की कोशिश करना अति अप्रिय है और जब यह ताल्लुक़ दोनों के लिए या दोनों में से किसी एक के लिए चरित्र के दोष का कारण बन जाए या उस में प्रेम और दया की जगह घृणा और अप्रियता दाखि़ल हो जाए, तो फिर उसका तोड़ देना ज़रूरी है और उसका बाक़ी रहना शरीअत के उद्देश्यों के खि़लाफ़ है। इस मूल चीज़ के मातहत शरीअत ने निकाह के मामले के दोनों फ़रीक़ों को एक-एक क़ानूनी यंत्र ऐसा दिया है, जिससे वे विवाह-बंधन के असह्य हो जाने की स्थिति में सूझ-बूझ से काम ले सकते हैं। मर्द के क़ानूनी यंत्र का नाम तलाक़ है, जिसके इस्तेमाल में उसे स्वतंत्रतापूर्ण अधिकार दिया गया है और इसके मुक़ाबले में औरत के क़ानूनी यंत्र का नाम खुलअ़ है, जिसके इस्तेमाल की शक्ल यह रखी गयी है कि जब वह विवाह-बंधन को तोड़ना चाहे, तो पहले मर्द से उसकी मांग करे और अगर मर्द उसकी मांग पूरी करने से इंकार कर दे, तो फिर क़ाज़ी से मदद ले।

दम्पति के अधिकारों में सन्तुलन इसी तरह क़ायम रह सकता है और अल्लाह और रसूल ने वास्तव में यही सन्तुलन स्थापित किया था, पर क़ाज़ी के सुनने के अधिकार को बीच से निकाल कर के यह सन्तुलन बिगाड़ दिया गया, क्योंकि इस तरह वह क़ानूनी यंत्र जो औरत को दिया गया था, कदाचित् बेकार हो गया है और अमलन क़ानून की शक्ल बिगड़ कर यह हो गयी कि अगर मर्द को दाम्पत्य संबंध में अल्लाह की हदों के टूटने का भय हो या यह संबंध उसके लिए असह्य हो जाएं, तो वह उसे तोड़ सकता है।लेकिन अगर यही डर औरत को हो या दाम्पत्य संबंध उसके लिए असह्य हो जाए, तो उसके पास इस

ताल्लुक़ को ख़त्म कराने का कोई साधन नहीं, जब तक मर्द ही उसको आज़ाद न कर दे। वह मजबूर है कि बहरहाल इस ताल्लुक़ में बंधी रहे, चाहे अल्लाह की हदों पर क़ायम रहना उसके लिए असंभव ही क्यों न हो जाए और विवाह के शरई उद्देश्य बिल्कल ही क्यों न समाप्त हो जाएं। क्या किसी में इतना साहस है कि अल्लाह और उसके रसूल की शरीअत पर इतने खुले अन्याय का आरोप लगा सके? यह साहस अगर कोई करे, तो उसे फ़ुक़हा के कथनों से नहीं, बल्कि किताब व सुन्नत से उसका सबूत पेश करना चाहिए कि अल्लाह और रसूल ने खुलअ़ के मामलों में क़ाज़ी को कोई अधिकार नहीं दिया है।

खुलअ़ के बारे में क़ाज़ी के अधिकार

क़ुरआन मजीद की जिस आयत में खुलअ़ का क़ानून बयान किया गया है, उसको फिर पढ़िए—

> "अगर तुम को डर हो कि वे अल्लाह की हदों पर क़ायम न रह सकेंगे, तो इन दोनों (अर्थात् दम्पति) पर इसमें कोई हरज नहीं कि वह (अर्थात औरत) कुछ फ़िदया देकर अलगाव प्राप्त कर ले।
>
> —अल-बक़र: २२९

इस आयत में खुद दम्पति का उल्लेख तो अन्य पुरुष में किया गया है, इस लिए शब्द 'ख़िफ़्तुम' (अगर तुम को भय हो) का सम्बोधन उनसे नहीं हो सकता। अब निश्चित रूप से यह मानना पड़ेगा कि उसका सम्बोधन मुसलमानों के शासकों या अधिकारियों से है और अल्लाह के हुक्म का मंशा यह है कि अगर खुलअ़ पर दम्पतियों में आपसी रज़ामंदी न हो, तो अधिकारियों की ओर रुजू किया जाए।

इसकी ताईद उन हदीसों से होती है, जो हम ऊपर नक़ल कर चुके

हैं। नबी करीम सल्ल० और खुलफ़ा-ए-राशिदीन के पास खुलअ़ के दावे लेकर औरतों का आना और आप का उन्हें सुनना खुद इस बात की दलील है कि जब पति-पत्नी में खुलअ़ पर राज़ीनामा न हो सके, तो औरत को क़ाज़ी की तरफ़ रुजूअ करना चाहिए। अब अगर वास्तव में क़ाज़ी इस मामले में सिर्फ़ सुनने का अधिकार रखता हो, पर मर्द के राज़ी न होने की शक्ल में उससे अपना फ़ैसला मनवाने की शक्ति न रखता हो, तो क़ाज़ी को 'रुजू करने की जगह' क़रार देना सिरे से फ़िज़ूल ही होगा, क्योंकि इस के पास जाने का नतीजा वही है जो न जाने का है। लेकिन क्या हदीसों से भी यह साबित होता है कि क़ाज़ी इस मामले में बेअख़्तियार है? नबी सल्ल० और खुलफ़ा-ए-राशिदीन के जितने फ़ैसले ऊपर नक़ल किये गये हैं, इन सब में या तो आदेशसूचक क्रिया आयी है जैसे 'उसे तलाक़ दे दे', 'उससे जुदा हो जा', और 'इसको छोड़ दे' या यह बयान किया गया है कि आपने मर्द को हुक्म दिया कि ऐसा करे और इब्ने जरीर ने इब्ने अब्बास रज़ि० से जो रिवायत नक़ल की है, उस के शब्द ये हैं, 'फिर आपने उन को जुदा कर दिया' और यही शब्द उस कथन में भी हैं जो खुद जमीला बिन्त उबई बिन सलूल से नकल की गयी है। इसके बाद यह संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं रहती कि क़ाज़ी खुलअ़ के मामले में हुक्म देने का अधिकार नहीं रखता।

रहा यह सवाल कि अगर शौहर इस हुक्म को सिर्फ़ मशिवरा समझ कर मानने से इंकार कर दे, तो क्या क़ाज़ी जबरन उससे अपना हुक्म मनवा सकता है? तो इसका जवाब यह है कि नबी सल्ल० और खुलफ़ा-ए-राशिदीन रज़ि० के ज़माने में तो ऐसी कोई मिसाल हम को नहीं मिलती कि आपने कोई फ़ैसला किया हो और किसी ने उसे न मानने की जुर्रत की हो। लेकिन सय्यिदिना अली रज़ि० के इस फ़ैसले पर हम अनुमान कर सकते हैं, जिसमें आपने एक हेकड़ शौहर से

फ़रमाया था, ''तुझे न छोड़ा जाएगा, जब तक कि तू भी इसी तरह दोनों हकमों (पंचों) का फ़ैसला क़ुबूल करने पर राज़ी न हो, जिस तरह औरत राज़ी हुई है।'' अगर क़ाज़ी एक शौहर को दोनों हकमों का फ़ैसला मानने से इंकार पर हिरासत में रख सकता है, तो वह ख़ुद अपना फ़ैसला मनवाने के लिए तो कहीं ज़्यादा शक्ति इस्तेमाल करने का हक़ रखता है और कोई वजह नहीं कि दुनिया के तमाम मामलों में केवल एक खुलअ़ ही की समस्या ऐसी हो कि जिसे क़ाज़ी के इस अधिकार से छूट मिल जाए। फ़िक्ह की किताबों में बहुत-सी ऐसी आंशिक बातें मिलती हैं, जिन में क़ाज़ी को अधिकार दिया गया है कि अगर शौहर उसके हुक्म से तलाक़ न दे तो क़ाज़ी ख़ुद अलग करा दे, फिर क्यों न खुलअ़ के मस्अले में भी क़ाज़ी को यह अधिकार प्राप्त हो।

आगे चल कर जो वार्ताएं आएंगी, उनसे यह हक़ीक़त और भी अधिक स्पष्ट हो जाएगी कि अिन्नीन[१] और मज्बूब,[२] ख़स्सी, कोढ़ी और सफ़ेद दाग़ वाले और पागल शौहरों के मस्अलों में फ़ुक़हा ने जो नियम बनाये हैं और इसी तरह बालिग़ के चुनने के अधिकार में और कुछ दूसरे मस्अलों में जो इज्तिहादी क़ानून बनाये गये हैं, उनकी मौजूदगी में तो बहुत ज़रूरी हो गया है कि औरतों को ख़ुलअ़ दिलाने के पूरे अधिकार क़ाज़ी को प्राप्त हों, वरना जो औरतें ऐसी हालत में गिरफ़्तार हो जाएं, उनके लिए इसके अलावा कोई शक्ल ही नहीं रह जाती कि वे या तो तमाम उम्र मुसीबत में ज़िंदगी गुज़ारें या आत्महत्या कर लें या अपनी मनोकामनाओं से मजबूर होकर बेहयाई में पड़ जाएं, या मजबूरन विधर्मी होकर विवाह-बंधन से मुक्ति पाने की कोशिश करें। अपने उद्देश्यों के स्पष्टीकरण के लिए हम यहां एक मिसाल देना काफ़ी समझते हैं :—

---

१. नामर्द, २. जिसका अंग कटा हो,

अिन्नीन (नामर्द) के मामले में फ़िक़्ही मस्अला यह है कि उसको एक साल बाद तक इलाज की मोहलत दी जाएगी। अगर इलाज बाद वह एक बार भी संभोग करने में समर्थ हो गया, यहां तक कि अगर एक बार उसने अधूरा संभोग भी कर लिया, तो औरत को निकाह ख़त्म कराने का हक़ नहीं है, बल्कि यह हक़ हमेशा के लिए ख़त्म हो गया। अगर औरत को निकाह के वक़्त मालूम था कि वह नामर्द है और फिर वह निकाह पर राज़ी हुई, तो उसको सिरे से क़ाज़ी के पास दावा ही ले जाने का हक़ नहीं। अगर उसने निकाह के बाद एक बार संभोग किया और फिर नार्मद हो गया तब भी औरत को दावे का हक़ नहीं। अगर औरत को निकाह के बाद शौहर के नामर्द होने का ज्ञान हो और वह उसके साथ रहने पर अपनी रज़ामंदी प्रकट करे, तब भी वह हमेशा के लिए निकाह ख़त्म कराने के हक़ से महरूम हो गयी। इन सूरतों में औरत का निकाह ख़त्म कराने का अधिकार तो यों ग़लत हो गया, इसके बाद ऐसे नाकारा शौहर से छुटकारा हासिल करने की दूसरी शक्ल यह रह जाती है कि वह ख़ुलअ् ले, पर वह उसको मिल नहीं सकता, क्योंकि शौहर से मांग करती है, तो वह उसका पूरा मह्र, बल्कि मह्र से कुछ ज़्यादा लेकर भी छोड़ने पर राज़ी नहीं होता और अदालत से रुजू करती है, तो वह उसको मजबूर कर के तलाक़ दिलवाने या अलग करने से इन्कार कर देती है। अब ग़ौर कीजिए कि इस ग़रीब औरत का क्या बनेगा? बस यही ना कि या तो वह आत्महत्या कर ले या ईसाई राहिबात (संन्यासिनियों) की तरह नफ़्स कुचलने की ज़िंदगी बसर करे और अपने नफ़्स पर जानलेवा कष्ट सहन करे या विवाह-बंधन में रह कर नैतिक बेहयाई का शिकार हो जाए या फिर सिरे से दीने इस्लाम ही को छोड़ दे। पर क्या इस्लामी क़ानून का मंशा भी यही है कि कोई औरत इन हालात में से किसी हालत में फंसे? क्या ऐसे दाम्पत्य संबंध से शरीअत के वे उद्देश्य पूरे

हो सकते हैं, जिनके लिए दाम्पत्य क़ानून बनाया गया है, क्या ऐसे जोड़ों में प्रेम और दया होगी? क्या वे आपस में मिल कर संस्कृति की कोई लाभप्रद सेवा कर सकेंगे? क्या उनके घर में ख़ुशी और राहत के फ़रिश्ते कभी दाख़िल हो सकेंगे? क्या यह विवाह-बंधन किसी हैसियत से भी एहसान (सतीत्व की रक्षा) की परिभाषा में आ सकेगा और इससे धर्म और चरित्र और सतीत्व की रक्षा होगी? अगर नहीं तो बताया जाए कि बेगुनाह औरत की ज़िंदगी बर्बाद होने या मजबूरन उसके बेहयाई में पड़ जाने या दीन-धर्म के क्षेत्र से निकल जाने का वबाल किस के सिर होगा? अल्लाह और रसूल तो यक़ीनन ज़िम्मेदारी से मुक्त हैं, क्योंकि उन्होंने अपने क़ानून में ऐसी कोई कमी नहीं छोड़ी है।

शरीअत का फ़ैसला

तलाक़ और ख़ुलअ़ की बहस में इस्लामी क़ानून का जो विवरण दिया गया है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह क़ानून इस नियम के आधार पर बनाया गया है कि औरत और मर्द का दाम्पत्य संबंध अगर क़ायम रहे, तो अल्लाह की हदों की हिफ़ाज़त और प्रेम और दया के साथ क़ायम रहे, जिसको क़ुरआन में 'भलाई से चिमटना' जैसे शब्द से याद किया गया और अगर इस तरह उनका आपस में मिल कर रहना संभव न हो तो 'भले तरीक़े से अलग होना' होना चाहिए। अर्थात् जो मियाँ-बीवी सीधी तरह मिल-जुल कर न रह सकते हों, वे सीधी तरह अलग हो जाएं और ऐसी शक्ल न पैदा होने पाए कि उनके मतभेद से न सिर्फ़ उनकी अपनी ज़िंदगी कड़वी हो, बल्कि ख़ानदानों में फ़ित्ने पैदा हों, समाज में गन्दगी फैले, नैतिक बुराइयों का प्रचार हो और आगे की नस्लों तक उनके बुरे प्रभाव छूत की बीमारी की तरह फैल जाएं। इन्हीं ख़राबियों को दूर करने के लिए शरीअत ने मर्द को तलाक़ का और औरत को ख़ुलअ़ का हक़ दिया है,

ताकि अगर वे चाहें तो खुद 'भले तरीक़े पर अलग होने' पर अमल कर सकें।[१] लेकिन बहुत-सी ऐसी झगड़ालू तबीयतें भी होती हैं जो न 'भले तरीक़े से चिमटे रहने' पर अमल कर सकती हैं और न 'भले तरीक़े पर अलग हो जाने' पर तैयार होती हैं। साथ ही सामाजिक जीवन में ऐसी सूरतें भी पेश आ सकती हैं, जिनमें दम्पति के बीच या तो अधिकारों के बारे में मतभेद होता है या 'भले तौर पर चिमटे रहने' और 'भले तरीक़े से अलग होने' दोनों पर अमल करना उनके लिए संभव नहीं होता, इसलिए शरीअत ने तलाक़ और खुलअ़ के अलावा एक तीसरा तरीक़ा भी अधिकारों के निर्णय और अल्लाह ही के हदों की हिफ़ाज़त के लिए मुक़र्रर कर दिया है, जिस का नाम शरीअत का फ़ैसला है।

---

१. यहां इस बात को भी समझ लेना चाहिए कि इस्लामी शरीअत मियां—बीवी के आपसी झगड़ों का पब्लिक में एलानिया अदालत में आना पसन्द नहीं करती, इसलिए उसने औरत और मर्द दोनों के लिए ऐसे क़ानूनी रास्ते बता दिये हैं कि यथासंभव घर के घर में वे अपने झगड़े निपटा लें। अदालत का दरवाज़ा खटखटाना बिल्कुल अन्तिम उपाय है, जबकि घर में फ़ैसला कर लेने की कोई संभावना न हो।

शरीअत के फ़ैसले के बारे में कुछ बुनियादी बातें

इससे पहले कि उन मसअलों को लिया जाए जो शरीअत के फ़ैसले से ताल्लुक़ रखते हैं, कुछ बुनियादी बातों का स्पष्टीकरण ज़रूरी है।

फ़ैसले के लिए पहली शर्त

शरीअत के फ़ैसले की शर्तों में सबसे पहली शर्त यह है कि अदालत अनिवार्य रूप से इस्लामी अदालत होनी चाहिए और क़ाज़ी को अनिवार्य रूप से मुसलमान होना चाहिए। इसकी एक वजह तो वही है जिसको फ़ुक़हा (धर्मशास्त्रियों) ने पूरी तरह स्पष्ट किया है, अर्थात् यह कि शरीअत के नियम के तहत शरअी मामलों में मुसलमानों पर ग़ैर-मुस्लिम हाकिम का हुक्म, भले ही प्रत्यक्ष में लागू हो जाए, पर परोक्ष रूप से लागू नहीं हो सकता। जैसे अगर एक ग़ैर-मुस्लिम हाकिम एक मुसलमान का निकाह ख़त्म करे, तो चाहे उसका यह हुक्म शरीअत के हुक्मों के अनुसार ही क्यों न हो और दम्पति में व्यावहारिक रूप से अलगाव ही क्यों न हो जाए, लेकिन वास्तव में न उसके ख़त्म करने से निकाह ख़त्म होगा और न शरई तौर पर औरत के लिए दूसरे व्यक्ति से निकाह करना जायज़ होगा। अगर वह निकाह करेगी, तो उसका निकाह ग़लत होगा और इस्लामी शरीअत की निगाह में उसकी औलाद नाजायज़ होगी।

रही दूसरी वजह, तो वह यह है कि क़ुरआन ग़ैर-इस्लामी अदालत के फ़ैसले को एक तो उसूलन मानता ही नहीं, फिर मुसलमानों के मामले में ख़ास तौर पर उसका यह क़तई फ़ैसला है कि उनपर ग़ैर-इस्लामी अदालत का हुक्म अल्लाह के नज़दीक मान्य नहीं है। इस विषय का पूरा स्पष्टीकरण मैं अपने लेख 'एक निहायत अहम फ़तवा' में कर चुका हूं, जो इस पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट के रूप में लगा दिया गया है।

फ़ैसले के लिए इज्तिहाद की ज़रूरत

इसके अलावा जिन मसूअलों का फ़ैसला क़ाज़ी के फ़ैसले पर छोड़ा गया है, अगरचे उनके लिए शरीअत में विस्तृत क़ानून मौजूद हैं, लेकिन निजी मामलों के मुक़दमे पर विशेष परिस्थितियों को सामने रख कर इन क़ानूनों का सही स्पष्टीकरण और उनको लागू करना और क़ानून की बुनियादों से यथा अवसर आंशिक मामलों का हल और क़ानून की भावना के अनुसार झगड़ों को तय करने की तमाम शर्तों का विचार बिना इसके संभव नहीं कि क़ाज़ी में इज्तिहाद करने की क्षमता हो और उसके साथ उसके दिल में विश्वास की हद तक उस क़ानून का सम्मान मौजूद हो, जिसको लागू करने के लिए वह फ़ैसला करने के पद पर नियुक्त किया गया है। ज़ाहिर है कि ये दोनों बातें उसी व्यक्ति में पाई जा सकती हैं,जो मज़हब के लिहाज़ से मुसलमान हो, इस्लामी क़ानून की बुनियादी और ग़ैर-बुनियादी बातों पर हावी हो, उसकी भावना को ख़ूब अच्छी तरह समझता हो, उसके मूल उद्गम पर महारत रखता हो और मुस्लिम समाज के संघटन को अन्दरूनी तौर पर ख़ूब जानता हो, एक ग़ैर-मुस्लिम जज में इन गुणों का पाया जाना किसी तरह भी संभव नहीं और इस वजह से यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि वह मुसलमानों के शरई मामलों का सही फ़ैसला कर सकेगा।

भारत में शरई (धार्मिक) अदालतों के न होने की हानियां

भारत में[1] अंग्रेज़ी शासन स्थापित होने के बाद भी सन् १८६४ ई० तक मुसलमानों के शरई मामलों का फ़ैसला मुसलमान क़ाज़ी ही करते थे, जिनका चुनाव उलेमा के गिरोह में से किया जाता था, लेकिन इसके बाद क़ाज़ी-पद समाप्त कर दिया गया और आम दीवानी मामलों की तरह शरई मामले भी अंग्रेज़ी अदालतों के अधिकार-क्षेत्र में दाखिल कर दिये गये।

इसका पहला नुक़्सान तो यह हुआ कि शरीअत के नियमों के अनुसार जिस चीज़ को शरई फ़ैसला कहा जाता है, वह क़रीब-क़रीब बिल्कुल खत्म हो गया और मुसलमानों के लिए अपने शरई मामलों में अदालतों से ऐसा फ़ैसला हासिल करना असंभव हो गया, जो उनके मज़हब के अनुसार जायज़ शरई फ़ैसला कहा जा सकता हो।

दूसरा नुक़्सान, जो अहमियत में पहले नुक़्सान से किसी तरह कम नहीं, यह हुआ कि इन अदालतों के अधिकारियों के पास न वे साधन हैं,

---

१. यहां मैं फिर इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं उसूलन उस शरई फ़ैसले के सही होने में विश्वास नहीं रखता, जो ग़ैर-इस्लामी शासन के आदेश से क़ायम हो, पर इस जगह एक उपाय के तौर पर वह शक्ल बयान कर देना चाहता हूँ, जिससे इस्लामी राज्य क़ायम होने तक भारतीय मुसलमानों के शरई मामले किसी हद तक ठीक हो सकते हैं।

जिनसे वे इस्लामी क़ानून के नियमों और उपनियमों पर इतनी विस्तृत नज़र जुटा सकते हों कि उनमें सही इज्तिहादी ताक़त पैदा हो जाए और न उनके दिल में उस क़ानून का सम्मान होता है कि उसकी सीमाओं का उल्लंघन करने में उनको संकोच हो, उनके ज्ञान का आश्रय जिन ग्रन्थों पर है, वे ऐसे लेखकों की लिखी हुई हैं, जो अरबी नहीं जानते थे, जैसे हेमिल्टन (Hamilton), जिसने एक फ़ारसी टीका की मदद से हिदाया का अनुवाद किया है, हालांकि वह ग़रीब हिदाया को समझने की योग्यता ही न रखता था और फ़िक़्ह के सामान्य पारिभाषिक शब्दों में भी उसने इतनी ठोकरें खायीं कि अधिकतर जगहों पर असल हिदाया की ओर रुजू किये बिना उसकी बात समझ में नहीं आ सकती और बैली (Baillie), जिसका डाइजेस्ट आफ़ मुहम्मडन लॉ (Digest of Muhammadan Law) फ़तावा आलमगीरी के अंशों के अनुवाद से उद्‌धृत है और मेकनाटन (Macnaghton), जिसकी किताब 'मुहम्मडन ला के नियम' (Principle of Muhammadan Law) अधूरी जानकारियों और उसपर अधूरी समझ और अर्थ-निरूपण के साथ तैयार की गयी है। अंग्रेज़ी अदालतें स्वयं अपने ज्ञान-क्षेत्र की इस तंगी को स्वीकार करती हैं, चुनांचे जस्टिस मारबी एक मुक़दमे के फ़ैसले में लिखता है—

> "इस्लामी शरीअत को मालूम करने के लिए अदालत को जो साधन प्राप्त हैं, वे इतने तंग और सीमित हैं कि मैं उससे ताल्लुक़ रखने वाली समस्याओं के हल से बचने के हर तरीक़े को अपनाने पर सहर्ष तैयार हूं।"[1]

पर ऐसी सीमित जानकारियों के साथ ये अदालतें इस्लामी क़ानून में इज्तिहाद करने की जुर्रत करती हैं और इसकी सीमाओं से उल्लंघन

---

१. ख़्वाजा हुसैन बनाम शहज़ादी बेगम

करने में उनको कोई संकोच नहीं होता, क्योंकि न इस क़ानून का सम्मान उनके अक़ीदों में दाख़िल है और न स्थापित सरकार की न्यायपालिका की ओर से उनपर कोई ऐसी पाबंदी लगायी गयी है कि वे इस क़ानून की सीमाओं का उल्लंघन न कर सकें। एक मुक़दमे के फ़ैसले[1] में चीफ़ जस्टिस गारथ ने जो शब्द लिखे हैं, वे इन अदालतों की सही पोज़ीशन को स्पष्ट करने के लिए काफ़ी हैं–

"इस्लामी क़ानून, जिसकी ओर हमें ध्यान दिलाया गया है और जो पुरानी किताबों में लिखा हुआ है, अब से सदियों पहले बग़दाद और दूसरे इस्लामी देशों में जारी हुआ था, जिनके क़ानूनी और सांस्कृतिक हालात, भारत के हालात से बिल्कुल भिन्न थे। यद्यपि हम ऐसे मुक़दमों में, जो मुसलमानों के दर्मियान होते हैं, यथासंभव शरीअत के आदेशों के मुताबिक़ अमल करने की कोशिश करते हैं, लेकिन एक तो यही मालूम करना कठिन है कि असल में वे हुक्म क्या थे, फिर इन मतभेदों में मेल पैदा करना भी कठिन है, जो बड़े मुज्तहिदों अर्थात् इमाम अबू हनीफ़ा और उनके शिष्यों के बीच बड़ी मात्रा में हुए हैं। इसलिए संभव हद तक हमें उस सही नियम को मालूम करने की कोशिश करनी चाहिए, जिन पर कोई हुक्म आधारित हो और फिर नियम, न्याय, नेकनीयती और दूसरे राष्ट्रीय क़ानून और सांस्कृतिक हालात को दृष्टि में रख कर उसे लागू करना चाहिए।"

इन बातों से ज़ाहिर है कि अदालत का एक हाकिम जो इस्लामी क़ानूनों से अपनी अज्ञानता को स्वीकार करता है और इमामों के मतभेदों में मिलान करने का अपने आप को योग्य नहीं समझता, वह इस्लामी क़ानूनों में इस अपूर्ण ज्ञान के साथ इज्तिहाद से काम लेने को

---

१. मलिक अब्दुल ग़फ़ूर बनाम मुलेगा

एलानिया जायज़ ठहराता है और उसे एक अदालती फ़ैसले में यह बात ज़ाहिर करते हुए कोई संकोच नहीं होता कि वह मुसलमानों पर इस्लामी क़ानूनों के लागू करने में सिर्फ़ इस्लामी क़ानून ही की सीमाओं का पाबंद नहीं है, बल्कि इसके साथ राष्ट्रीय क़ानूनों और सांस्कृतिक हालात और इंसान के क़ायदों के बारे में स्वयं अपने सिद्धान्तों का ध्यान करना भी उसके लिए ज़रूरी है। यह बिना ईमान व इल्म के इज्तिहाद का नतीजा है कि अधूरा और अपूर्ण क़ानून मुहम्मडन ला के नाम से हमारे देश की अदालतों में लागू है। हमारे शरई मामलों में यह ठीक-ठीक लागू भी नहीं होता और अदालती फ़ैसलों से इसकी शक्ल हर दिन बिगड़ती चली जा रही है।

सुधार के रास्ते में पहला क़दम

पस निकाह व तलाक़ और दूसरे शरई मामलों में सही फ़ैसले हासिल करने की कम-से-कम अगर कोई शक्ल इस समय संभव है, तो यह कि भारत के मुसलमानों को इस देश में सांस्कृतिक स्वायत्तता (Cultural Autonomy) प्राप्त हो[१] और उसके तहत मामलों के हल के लिए स्वयं अपने शरई विभाग स्थापित करने का अधिकार रखते हों और इन विभागों में ऐसे खुदा से डरने वाले उलेमा क़ाज़ी की हैसियत से मुक़र्रर किये जाएं, जो शरीअत के क़ानून में ज़बरदस्त सूझ-बूझ रखते हों। यह ऐसी ज़रूरत है, जिसके बिना सच में मुसलमान के लिए मुसलमान होने की हैसियत से यहां ज़िंदा रहना कठिन है और अगर यह चीज़ भी उन्हें प्राप्त न हो, तो कम-से-कम इतना तो हो ही और यह इंतिहाई मजबूरी की हालत में आख़िरी शक्ल है कि मालिकी दृष्टि से हर ज़िले में तीन मुसलमानों की एक पंचायत मुक़र्रर की जाए, जिसके

---

१. इस विषय पर सविस्तार वार्ता मैंने अपनी पुस्तक 'मुसलमान और मौजूदा सियासी कशमकश' भाग २ में की है।

सदस्यों पर आम तौर से उस ज़िले के मुसलमानों को भरोसा हो और जिनमें से कम-से-कम एक सदस्य प्रामाणिक दीन का आलिम हो, फिर सरकार पर दबाव डाल कर उससे यह मनवा लिया जाए कि मुसलमानों के निकाह व तलाक़ आदि के मामलों में पंचायत के फ़ैसलों की हैसियत अदालती फ़ैसलों की-सी होगी और अंग्रेज़ी अदालतों में उनके ख़िलाफ़ कोई अपील न हो सकेगी और स्वयं अंग्रेज़ी अदालतों में जो निकाह व तलाक़ वग़ैरह के मुक़दमे पेश होंगे, उनको भी पंचायतों की ओर भेज दिया जाएगा।[१]

ब्रिटिश इंडिया के अलावा ग़ैर-मुस्लिम राज्यों और उन मुसलमान राज्यों में भी, जिन्होंने अंग्रेज़ी शासन के अनुकरण में शरई फ़ैसले को रोक कर शरई मामलों को आम दीवानी अदालतों के सुनवाई-क्षेत्र में दाख़िल कर दिया है, मामलों में सुधार के लिए सबसे पहले यही कोशिश होनी चाहिए कि या तो शरई अदालतों का बन्दोबस्त किया जाए या फिर पंचायती व्यवस्था क़ायम कर के उसको इन राज्यों से मनवा लिया जाए, अगर यह न किया गया तो क़ानून बनाने वाली सभाओं में क़ानून के किसी मसविदे को पेश और पास करा लेना इस्लामी उद्देश्यों के लिए कदापि उपयोगी न होगा।

क़ानूनों के एक नये संग्रह की ज़रूरत

शरई अदालतों के इन्तिज़ाम के साथ एक और चीज़ भी बहुत ज़रूरी है और वह एक ऐसी पुस्तिका का लिखा जाना है, जिसमें

---

१. हनफ़ियों के नज़दीक पंचायत का फ़ैसला क़ाज़ी के फ़ैसले के बराबर का नहीं हो सकता, लेकिन अगर ये पंचायतें अपने फ़ैसले लागू करने का अधिकार रखती हों और उनके मुक़दमें सुनने के अधिकार मात्र पंचों जैसे न हों, बल्कि अधिकारपूर्ण हो, तो इनकी दृष्टि से भी उनके फैसले शरई फ़ैसलों के हुक्म में होंगे।

मुसलमानों के शरई मामलों के बारे में फ़िक़्ही हुक्मों को धारावार रूप में व्याख्या सहित तर्तीब दे दिया जाए, ताकि शरई विभागों या पंचायतों में वर्तमान अंग्रेज़ी मुहम्मडन लॉ की जगह उसको रिवाज दिया जा सके। मिस्र में जब ये मिश्रित पंचायत (Mixed Tribunals) स्थापित किये गये थे, तो वहां भी क़ानून के ऐसे एक संग्रह की ज़रूरत महसूस की गयी थी, जिसमें अति प्रामाणिक स्रोतों से तमाम ज़रूरी क़ानून इकट्ठा कर दिये गये हों, चुनांचे मिस्री सरकार के इशारे से क़दरी पाशा की अध्यक्षता में अज़हर के विद्वानों की एक परिषद् ने इस काम को अंजाम दिया और परिषद् के तैयार किये हुए संग्रह को सरकारी तौर पर मान्यता देकर अदालतों में लागू कर दिया गया।[1]

ज़रूरत है कि भारत में एक ऐसी परिषद् बनायी जाए, जिसमें हर गिरोह के चुने हुए उलेमा क़ानून के कुछ विशेषज्ञों के साथ मिलकर एक विस्तृत विधान अनिवार्य व्याख्याओं के साथ तैयार करें। इस ज़ाब्ते को शुरू में एक मसविदे की शक्ल में छापकर विभिन्न मत के उलेमा की राय मालूम की जाए, फिर इन रायों और आलोचनाओं पर उचित ढंग से विचार कर के उसपर पुनर्दृष्टि डाली जाए और जब यह विधान अपनी आख़िरी शक्ल में बन जाए, तो उसे शरई हुक्मों का प्रामाणिक संग्रह क़रार देकर यह तय कर दिया जाए कि आगे से मुसलमानों के शरई मामलों के लिए इसी संग्रह की ओर रुजू किया जाए और अंग्रेज़ी अदालतों की नज़ीरें और ग़ैर-मुसलमान जजों की व्याख्याओं से जो मुहम्मडन लॉ तैयार हुआ है, वह प्राय: समाप्त समझा जाए।

---

१. इस संग्रह का अनुवाद फ्रांसीसी भाषा में Droit Mussalman के नाम से छप चुका है और मिस्र के अलावा दूसरे देशों में भी इसको अदालतों में इस्तेमाल किया जाता है।

कहा जा सकता है कि जब हमारी फ़िक्ह की किताबों में तमाम मसूअले सविस्तार मौजूद हैं, तो एक नया संग्रह तैयार करने की ज़रूरत ही क्या है, यह आपत्ति केवल संभव नहीं है, बल्कि एक गिरोह की मनोवृत्ति को देखते हुए यक़ीन है कि इस प्रस्ताव का विरोध ज़रूर किया जाएगा। इसलिए हम संक्षेप में उन कारणों का उल्लेख करते हैं, जिनकी वजह से हमारे नज़दीक यह काम ज़रूरी है।

यह बात तो सरसरी नज़र में हर व्यक्ति समझ सकता है कि फ़िक्ह की किताबों में मसूअले बिखरे हुए हैं, पुरानी शैली और ढंग पर लिखे हुए हैं और ऐसी भाषा में हैं, जिसकी पारिभाषिक बारीकियों को अब आम तौर से वे लोग भी अच्छी तरह नहीं समझते जो इन पुस्तकों का पाठ पढ़ाते हैं। आजकल क़ानून की किताबों में जिस तरह हुक्मों को धारावार बयान किया जाता है और फिर हर धारा के नीचे उसके विशेष शब्दों की व्याख्या, उसके उद्देश्य का स्पष्टीकरण, उसके अन्तर्गत आने वाली उपधाराओं का विवेचन दिया जाता है और विश्वसनीय अधिकारियों की नज़ीरें और विभिन्न विशेषज्ञों की रायें जिस तरह खुल कर अंकित की जाती हैं और सूचियों और इन्डेक्सों से समस्याओं के खोज निकालने में जो आसानियां जुटायी जाती हैं, उनको देख कर कोई भी उचित व्यक्ति यह मानने से इंकार न करेगा कि इंसानी कोशिशों से लिखने और संग्रहीत करने की कला में जो तरक़्क़ी हुई है, उससे फ़िक्ह की किताबों को नये सिरे से तर्तीब देने में ज़रूर काम लिया जाना चाहिए। आख़िर प्राचीन शैली और ढंग कोई आख़िरी शैली तो न थी कि उसकी पाबंदी अनिवार्य और उसका उल्लंघन पाप हो।

लेकिन इससे ज़्यादा अहम वजह यह है कि पुरानी फ़िक़्ही किताबों में जितने हुक्म बयान किये गये हैं, उनमें ज़्यादातर आम इंसानी हालात को नज़र में रखा गया है, इन हुक्मों को शब्दशः लेकर हर

जगह हर मामले पर निःसंकोच रूप से जारी कर देना मूलतः ग़लत है। उनका सही तौर पर लागू कर देना इस पर निर्भर है–

"एक यह कि जिस इस्लामी समाज में उनको लागू किया जा रहा है, उसके नैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक हालात को नज़र में रखा जाए। यह भी देखा जाए कि उनकी सामूहिक आदतें और रस्म व रिवाज किस क़िस्म के हैं, वे किस माहौल में रहते हैं, इस माहौल के उनपर क्या प्रभाव हैं, उनके आचरण और उनके व्यवहार में इस्लाम का प्रभाव कितना मज़बूत या कमज़ोर है। बाहरी प्रभावों से उनके इस्लामी गुणों में कितना अन्तर हो गया है और आम सांस्कृतिक हालात से मामलों की फ़िक़्ही हैसियत में क्या तब्दीलियां हुई हैं?"

"दूसरे यह कि हर मुक़दमे के विशेष व्यक्तिगत हालात पर नज़र रखी जाए। दोनों फ़रीक़ के आचरण, ज्ञान, शिक्षा, शारीरिक हालात, आर्थिक व सांस्कृतिक हैसियत, पिछला इतिहास, पारिवारिक परंपराएं और उनके वर्गों की आम हालत, सब पर निगाह डाल कर राय क़ायम की जाए कि एक विशेष छोटे मामले में उन पर क़ानून किस तरह से लागू किया जाए, जिससे क़ानून का मक़सद भी ठीक-ठीक पूरा हो जाए और क़ानून की बुनियाद से हटने जैसी स्थिति भी न होने पाये।"

इन दोनों पहलुओं को नज़रंदाज कर के अगर कोई व्यक्ति फ़िक़्ह की किसी पुरानी किताब में से एक उपधारा निकाले और आंखें बन्द करके उसको हर उस मुक़दमें में जो इस उपधारा से ताल्लुक़ रखता हो, फ़िट करता चला जाए, तो उसकी मिसाल उस हकीम जैसी होगी, जो बुक़रात और जालीनूस के नुस्ख़े लेकर बैठ जाए और देश की जलवायु, मौसम, रोगियों के अलग-अलग स्वभाव और रोगों की

अलग-अलग अवस्थाओं से आंखें बन्द कर के उन नुस्ख़ों को बरतना शुरू कर दे। पुराने हकीमों के तैयार किये हुए नुस्खे अपनी जगह बहुत मुनासिब और हिक्मत से भरे हुए सही, पर वे इसलिए कब बनाये गये थे कि जाहिल अत्तार (दवा बेचने वाले) उनको बरतें? उन्हें इस्तेमाल करने के लिए भी ज्ञान, तजुर्बा, हिक्मत और सूझ-बूझ की ज़रूरत है, बिल्कुल इसी तरह मुज्तहिद इमामों ने शरीअत के क़ायदों और बुनियादी हुक्मों से जो उपधाराएं तैयार की हैं, वे भी अपनी जगह बहुत मुनासिब सही, लेकिन यह बात तो उन बुज़ुर्गों के ज़ेहन ही में न आयी होगी कि इन इज्तिहादी हुक्मों के बिना कुछ सोचे और विचारे इस तरह इस्तेमाल किया जाएगा, जैसे डाकख़ाने की मुहर को एक जाहिल चपरासी हर लिफ़ाफ़े पर लगाता चला जाता है।

इस्लामी क़ानून ऐसे हिकमत भरे नियमों पर बनाया गया था कि उसके तहत किसी मर्द या औरत का मजबूरन चरित्रहीनता में फंस जाना या समाज में फ़ित्ने व फ़साद की वजह बन जाना क़रीब-क़रीब असंभव था और यह तो बिल्कुल ही असंभव था कि इस क़ानून की किसी सख़्ती से मजबूर होकर कोई मुसलमान औरत या मर्द इस्लाम की सीमा से निकल जाए, लेकिन आज हम यह देखते हैं कि मुसलमानों में न केवल अनगिनत ख़ानदानी झगड़े, बल्कि ज़बरदस्त नैतिक दोष, यहां तक कि धर्म से विमुखता तक की घटनाएं केवल इस लिए हो रही हैं कि अक्सर मुक़दमों में इस्लामी क़ानून में लोगों के लिए सही और न्यायपूर्ण फ़ैसला हासिल करना असंभव हो गया है, सूझ-बूझ और सोच-विचार न मुफ़्ती करते हैं, न अदालत के ज़िम्मेदार। इनमें से कोई भी नहीं देखता कि हम एक आम हुक्म को, जिस देश, जिस समाज और जिस ख़ास मुक़दमे में लागू कर रहे हैं, उनकी कौन-कौन सी विशेषताओं को ध्यान में रख कर, इस हुक्म के आम होने में शरीअत के उद्देश्यों के अधीन विशिष्ट करने की ज़रूरत है कि

शरीअत के उद्देश्यों में से कोई उद्देश्य समाप्त न होने पाये और उसकी बुनियादों में किसी बुनियाद का विरोध न होने पाये, जहां तक अदालत के अधिकारियों का सम्बन्ध है, उनकी विवशता तो स्पष्ट है। रहे उलेमा तो इनमें से कुछ तो इससे ज़्यादा की क्षमता ही नहीं रखते कि फ़िक़्ह की पुरानी किताबों में जो उपधाराएं जिस वाक्य के साथ लिखी हुई हैं, उनको ठीक-ठीक उसी वाक्य के साथ निकाल कर पेश कर दिया करें और कुछ को यद्यपि अल्लाह ने व्यापक दृष्टि और दीन में सूझ-बूझ दिया है,लेकिन अलग-अलग उनमें से किसी में भी इतना साहस नहीं कि किसी समस्या में सूझ-बूझ से काम लेकर किसी पुरानी उपधारा के वाक्य से बाल बराबर भी विमुख हो जाए, क्योंकि एक ओर तो ख़ुद उन्हें अपनी ग़लती में पड़े होने का डर इस जुर्रत से रोके रखता है और दूसरी ओर यह भय सताता रहता है कि दूसरे उलेमा की ओर से उनपर ग़ैर-मुक़ल्लिद (चारों इमामों को न मानने वाला) होने का आरोप जड़ दिया जाएगा। इसका इलाज इसके अलावा और कुछ नहीं कि हर प्रान्त के महान और प्रभावी उलेमा की एक टीम इस श्रेय को अपने हाथ में ले और सामूहिक शक्ति और प्रभाव से काम लेकर शरई मामलों के लिए ऐसा विधान बना दे जो भारतीय मुसलमानों के वर्तमान नैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक हालात के अनुकूल हो और जिसमें इतनी लचक भी हो कि विशेष व्यक्तिगत हालत में बुनियादी नियमों की रोशनी में उपधारा सरीखे हुक्म के अन्दर समुचित तब्दीली की जा सके।

अगर कोई व्यक्ति इस तरीक़े को 'ग़ैर-मुक़ल्लिदीयत' क़रार देता है, तो हम कहेंगे कि वह ग़लती पर है, वह नहीं समझता कि मुज्तहिद इमामों की तक़्लीद (अनुपालन) और नबियों की तक़्लीद में क्या अन्तर होना चाहिए, वह नहीं जानता कि जाहिल की तक़्लीद और शोधक विद्वान की तक़्लीद में क्या अन्तर होना चाहिए, उसे इतना भी

ज्ञान नहीं कि किसी फ़िक्ही मस्लक की पैरवी करने का अर्थ क्या है? उसने तक़्लीद का अर्थ यह समझ लिया है कि अपने फ़िक्ही मस्लक को दीन का दर्जा और इस मस्लक के इमाम को नबी का दर्जा और उसकी धाराओं को अल्लाह की किताब की तरह अटल समझा जाए और यह बात अक़ीदे के तौर पर मन में बिठायी जाए कि इस मस्लक के किसी मस्अले में सुधार, संशोधन और संवर्द्धन तो दूर की बात, उसपर जांच-पड़ताल और आलोचना की नज़र डालना भी महापाप है और किसी मस्अले में उस मस्लक की किसी उपधारा को छोड़ कर किसी दूसरे फ़िक्ही मस्लक से कोई उपधारा निकालना इज्तिहाद के दौर तक अर्थात् चौथी सदी हिजरी तक तो हलाल था, पर इसके बाद हराम हो गया है, लेकिन इस तरह की तक़्लीद पुराने उलेमा में से किसी से भी साबित नहीं और न इसके लिए कोई शरई सबूत कहीं से मिल सकता है। इमामे आज़म रह० के शिष्यों ने सैकड़ों मस्अलों में अपने इमाम से मतभेद किया और इस के बावजूद वे हनफ़ी होने से ख़ारिज न हुए। हनफ़ी उलेमा ने इमाम आज़म और उनके शिष्यों के मतभेदों में से कुछ को कुछ पर प्रमुखता दी और कुछ को छोड़ कर कुछ पर फ़त्वा दे दिया। पर इस खोज और आलोचना के बावजूद कोई उनको ग़ैर-मुक़ल्लिद नहीं कह सकता। चौथी सदी हिजरी से लेकर आठवीं और नवीं सदी तक पुराने हनफ़ी उलेमा इज्तिहादी मस्अलों में ज़माने की ज़रूरतों की दृष्टि से परिवर्तन करते रहे और ज़रूरत के मुताबिक़ दूसरे मुज्तहिद इमामों के मस्लकों से मस्अले निकाल कर उनके मुताबिक़ फ़त्वे देते रहे, पर किसी ने इस इज्तिहाद पर ग़ैर-मुक़ल्लिद होने का हुक्म नहीं लगाया। किसी में यह जुर्रत नहीं कि अबुल्लैस समरक़न्दी, शम्सुल अइम्मा सरख़सी, साहिबे हिदाया, क़ाज़ी ख़ां साहिबे कंज़, अल्लामा शामी और ऐसे ही दूसरे उलेमा को मात्र इस कारण ग़ैर-मुक़ल्लिद कह दे कि उन्होंने हनफ़ी मस्लक के मस्अलों में

अपने ज़माने के हालातों की ज़रूरतों की दृष्टि से लचक पैदा की और जिन मामलों में उस मस्लक के कुछ हुक्मों के नुक्सान की वजह या आम हालात को ध्यान में रखते हुए अव्यवहार्य बताया, इनमें दूसरे फ़िक़्ही मस्लकों के मुताबिक़ फ़त्वा दिया और इस बात को हनफ़ी मस्लक की बुनियादी बातों में दाख़िल कर दिया कि ज़रूरत के मुताबिक़ दूसरे मस्लक पर हुक्म और फ़त्वा देना जायज़ है, बशर्ते कि इसमें मनोकामनाओं का पालन न हो।

इसमें शक नहीं कि अगर लोग अपने आप ही अपनी ज़रूरतों के मौक़े पर दूसरे धर्मों के अनुसार अमल करने या स्वयं अपने मस्लक की छूट से फ़ायदा उठाने में आज़ादी बरतें, तो डर है कि इससे मनोकामनाओं का पालन, विभिन्न मस्लकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से जो छूटें ख़ास-ख़ास हालात में दी हैं, उनसे नफ़ा पाने और दीन (धर्म) के साथ मज़ाक़ का दरवाज़ा खुल जाएगा और मामलों में बड़ा बिखराव पैदा होगा, लेकिन अगर दीनी उलेमा, तक़्वा (ख़ुदा का डर) और नेकनीयती के साथ आपसी मशिवरा करके मुसलमानों की ज़रूरतों और हालात का ध्यान देते हुए ऐसा करें, तो इसमें किसी दीनी या दुनियावी नुक़्सान का डर नहीं, बल्कि अगर किसी मस्अले में अनजाने ही उनसे ग़लती भी हो, तो क़ुरआन की आयतें बताती हैं कि अल्लाह तआला उनको माफ़ फ़रमायेगा और उनकी नेकनीयती का उनको बदला देगा। इस रास्ते को अपनाने में तो ज़्यादा-से-ज़्यादा उतना ही ख़तरा है कि एक जमाअत उनके विरोध पर उतारू हो गयी और उनके मानने वालों में से भी एक गिरोह उनके प्रति दुर्विचार का शिकार हो जाएगा, लेकिन इससे बड़ा ख़तरा इस रास्ते को न अपनाने में है और वह यह है कि जब मुसलमान अपनी ज़रूरतों से तंग आकर इस्लामी क़ानून के बजाए मनोकामनाओं का पालन करेंगे और उनमें दीन से खिलवाड़ करने और अल्लाह की सीमाओं का उल्लंघन करने

और दीन व चरित्र की ख़राबी और कुफ़्र और नाफ़रमानी की बलाएं फैलेंगी और ईसाई क़ौमों की तरह वह भी अपने मस्लक के क़ानून को छोड़ कर इंसानी क़ानूनों को अपना लेंगे,[1] तो क़ियामत के दिन अल्लाह के सामने इन गुनाहगारों के साथ-साथ इनके दीनी पेशवा भी पकड़े हुए आएंगे और अल्लाह उनसे पूछेगा कि क्या हमने तुमको ज्ञान और बुद्धि इसीलिए दी थी कि तुम उससे काम न लो, क्या हमारी किताब और हमारे नबी की सुन्नत तुम्हारे पास इसी लिए थी कि तुम उसको लिए बैठे रहो और मुसलमान गुमराही के शिकार होते रहें? हमने अपने दीन को आसान बनाया था, तुमको क्या हक़ था कि उसे मुश्किल बना दो? हमने तुम को क़ुरआन और मुहम्मद सल्ल० की पैरवी का हुक्म दिया था, तुम पर यह किसने अनिवार्य किया कि इन दोनों से बढ़कर अपने बुज़ुर्गों का पालन करो। हमने हर मुश्किल का इलाज क़ुरआन में रखा था, तुमसे यह किसने कहा कि क़ुरआन को हाथ न लगाओ और अपने लिए इंसानों की लिखी हुई किताबों को काफ़ी समझो? इस पूछताछ के जवाब में उम्मीद नहीं कि किसी दीनी आलिम को 'कंज़ुद्दक़ाइक़' और 'हिदाया' और 'आलमगीरी' के लेखकों के दामनों में पनाह मिल सकेगी।

ये उपवार्ताएं, चूंकि ज़रूरी और अहम थीं और उनका विस्तृत विवेचन अनिवार्य था, इसलिए उनको इतनी जगह देनी पड़ी। इसके बाद हम अपनी असल वार्ता की तरफ़ रुजू करेंगे।

---

१. जैसा कि वे टर्की में कर चुके हैं।

सैद्धान्तिक हिदायतें

क़ुरआन मजीद चूंकि एक सैद्धान्तिक ग्रंथ है, इसलिए उन आंशिक समस्याओं को, जो दाम्पत्य मामलों के विवेचन से ताल्लुक़ रखती हैं, उसमें विस्तार के साथ नहीं बयान किया गया है, लेकिन कुछ ऐसे व्यापक सिद्धान्तों का उल्लेख कर दिया गया है, जो लगभग तमाम आंशिक समस्याओं पर भी हावी हैं, उपधाराओं के लिए भी बेहतरीन रहनुमाई करते हैं। अतः क़ानून के विस्तृत विवेचन पर नज़र डालने से पहले ज़रूरी है कि क़ुरआन मजीद के क़ायदों और नियमों को अच्छी तरह ज़ेहन में बिठा लिया जाए :–

१. "शिर्क अपनाने वाली औरतों से विवाह न करो, जब तक कि वे ईमान न लायें।" —अल-बक़रः २२१

"शिर्क अपनाने वाले मर्दों से अपनी औरतों के विवाह न करो, जब तक कि वे ईमान न ले आएं।" —अल-बक़रः २२१

"और हलाल की गयीं तुम्हारे लिए अह्ले किताब में से वे औरतें जो सुरक्षित हों।" —अल-माइदः ५

इन आयतों में यह क़ायदा मुक़र्रर किया गया है कि मुसलमान मर्द का निकाह मुश्रिक (शिर्क अपनाने वाली) औरत से नहीं हो सकता, अलबत्ता अह्ले किताब की औरतें इसके लिए हलाल हैं। पर मुसलमान औरत न मुश्रिक के निकाह में आ सकती हैं, न अह्ले किताब के।

२. "मुशिरक औरतों से निकाह न करो और मुशिरक मर्दों से अपनी औरतों के निकाह न करो।" —अल-बक़र: २२१

इससे यह क़ायदा भी मालूम हुआ कि मर्द तो अपना निकाह ख़ुद कर लेने का अख़्तियार रखता है, लेकिन औरत इस मामले में बिल्कुल आज़ाद नहीं है। उसे किसी के निकाह में देना वलियों (देख-रेख करने वालों) का काम है। इसमें शक नहीं कि हदीस 'कुंवारा अपने वली के मुक़ाबले में ज़्यादा हक़ रखता है', और 'कुंवारी का निकाह उसकी इजाज़त के बिना न करो' के अनुसार निकाह के लिए औरत की रज़ामन्दी ज़रूरी है और किसी को उसकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ उसका निकाह कर देने का हक़ नहीं है।पर चूंकि औरत के निकाह की समस्या परिवार के हित से एक गहरा ताल्लुक़ रखती है, इसलिए क़ुरआन मजीद यह चाहता है कि शादी के मामले में अकेली औरत की पसन्द और इच्छा काफ़ी न हो, बल्कि साथ-साथ उसके रिश्तेदार मर्दों की राय का भी इसमें दख़ल रहेगा।

३. "अत:जो फ़ायदा तुमने उनसे उठाया है, उसके बदले उनके महर अदा करो, एक कर्तव्य के रूप में।"

—अन-निसा: २४

"और तुम अपना दिया हुआ महर उनसे कैसे छीन लोगे, जब कि तुम एक-दूसरे से मज़ा ले चुके हो।"

—अन-निसा: २१

"और अगर तुमने हाथ लगाने से पहले और महर मुक़र्रर हो चुकने के बाद उसको तलाक़ दिया हो, तो इस शक्ल में मुक़र्रर न किये हुए महर का आधा देना होगा।"

—अल-बक़र: २३७

इन आयतों से मालूम होता है कि महर उस फ़ायदे का मुआवज़ा है, जो मर्द अपनी बीवी के सहवास से प्राप्त करता है। इसलिए सहवास के बाद ही पूरा महर वाजिब हो जाता है और किसी शक्ल में वह समाप्त नहीं हो सकता, अलावा इसके कि औरत या तो अपनी खुशी से पूरा महर या उसका कोई हिस्सा माफ़ कर दे या खुलअ के मुआवज़े में छोड़ दे।

४. "और अगर तुमने उनको महर में ढेर-सा माल भी दे दिया हो, उसमें से कुछ भी वापस न लो।"

-अन-निसा : २०

यह आयत इस बात की दलील है कि शरीअत में महर के लिए कोई हद मुक़र्रर नहीं की गयी है, इसलिए क़ानून के ज़रिए से उनको सीमित नहीं किया जा सकता।

५. "मर्द औरतों पर क़व्वाम हैं, इस वजह से कि एक को दूसरे पर अल्लाह ने प्रमुखता दी है और इसलिए कि वे उन पर अपने माल ख़र्च करते हैं।"

-अन-निसा : ३४

इस आयत के अनुसार नफ़क़ा (गुज़ारा-ख़र्च) मर्द पर औरत का अनिवार्य हक़ है और यह उन दाम्पत्य अधिकारों का मुआवज़ा है, जो निकाह के रिश्ते से मर्द को औरत पर हासिल होते हैं। औरत का यह हक़ किसी हाल में समाप्त नहीं हो सकता, अलावा इसके कि वह खुद इससे हाथ खींच ले या सरकशी करने लगे।

६. "खुशहाल आदमी अपनी खुशहाली के मुताबिक़ नफ़क़ा दे और जिसकी रोज़ी नपी-तुली हो, उसे अल्लाह ने जितना कुछ दिया हो, उसी में से वह ख़र्च करे।"

—अत-तलाक़ : ७

यहां नफ़क़ा के लिए यह क़ायदा मुक़र्रर किया गया है कि उसके तय करने में मर्द के सामर्थ्य का ध्यान किया जाएगा। मालदार पर उसके सामर्थ्य के अनुसार नफ़क़ा है और ग़रीब मर्द पर उसके सामर्थ्य के अनुसार।

> ७. "और जिन बीवियों से तुम को सरकशी का डर हो, उनको नसीहत करो और बिस्तरों में उनसे अलग रहो और उनको मारो। फिर अगर वे तुम्हारी बात मानने लगें, तो उन पर ज़्यादती के लिए बहाने न ढूंढ़ो।" —अन-निसा: ३४

इस आयत के अनुसार मर्द को सज़ा देने का अधिकार केवल इस स्थिति में दिया गया है, जब कि औरत सरकशी और अवज्ञा का रवैया अपनाये और इस स्थिति में भी सज़ा की सिर्फ़ दो शक्लें मुक़र्रर की गयी हैं :—

एक बिस्तरों में उनसे अलग रहो अर्थात् सहवास का छोड़ना, दूसरे हल्की मार, जो सिर्फ़ इंतिहा दर्जे की सरकशी में जायज़ है।

इस सीमा का उल्लंघन करना अर्थात् बिना किसी सरकशी के सज़ा देना या कम दर्जे की सरकशी पर इंतिहाई सज़ा देना या इंतिहाई सरकशी पर हलकी मार की हद से गुज़र जाना ज़ुल्म में दाख़िल है।

> ८. "और अगर तुम लोगों को डर हो मियां और बीवी के बीच नाचाक़ी (बिगाड़) का, तो एक पंच मर्द के रिश्तेदारों में से और एक औरत के रिश्तेदारों में से भेजो। अगर वे दोनों सुधार करना चाहेंगे, तो अल्लाह उनके बीच अनुकूलता पैदा कर देगा।"
> —अन-निसा: ३५

इस आयत में यह क़ायदा मुक़र्रर किया गया है कि अगर मियां-बीवी में झगड़ा हो जाए और ख़ुद आपस में समझौता कर लेने

की कोई सूरत न पैदा हो, तो अदालतों में उनके झगड़े निबटाये जाने से पहले यह उपाय कर लेना चाहिए कि एक व्यक्ति मर्द के रिश्तेदारों में से और एक व्यक्ति औरत के रिश्तेदारों में से हकम (पंच) के तौर पर मुक़र्रर किया जाए और दोनों मिलकर उनके झगड़े को निबटाने की कोशिश करें।

'और अगर तुम्हें डर हो' और 'तो भेजो' का सम्बोधन मुसलमानों के ज़िम्मेदारों से है। इसलिए हकम मुक़र्रर करना उन्हीं का काम है और दोनों हकम कोई निबटारा न कर सकें, तो आख़िर में निबटने का हक़ भी ज़िम्मेदार को ही हासिल है।

९. "फिर अगर तुमको डर हो कि वे दोनों मियां-बीवी अल्लाह की हदों को क़ायम न रख सकेंगे, तो उन दोनों पर कुछ गुनाह नहीं कि औरत फ़िदया (प्रतिदान) देकर अलगाव प्राप्त कर ले।"

—अल-बक़र: २२९

इस आयत में बताया गया है कि दम्पति के मामले में फ़ैसला करते वक़्त क़ाज़ी को सबसे ज़्यादा जिस बात पर ध्यान देना चाहिए, वह यह है कि क्या वे दोनों अपने दाम्पत्य संबंध में अल्लाह की सीमाओं पर क़ायम रह सकेंगे या नहीं? अगर इस बात का बड़ा गुमान हो कि अल्लाह की सीमाओं का उल्लंघन होगा, तो फ़िर कोई चीज़ इतना महत्व नहीं रखती कि उसके लिए दम्पति के बीच जमा का फ़ैसला करना जायज़ हो। सबसे अहम चीज़ अल्लाह की सीमाओं की रक्षा है और उसके लिए अगर ज़रूरी हो तो हर चीज़ क़ुर्बान कर दी जा सकती है।

१०. "और उनको नुक़्सान पहुंचाने के लिए न रोक रखो, ताकि उन पर ज़्यादती करो।"

—अल-बक़र: २३१

इस आयत में इस्लामी क़ानून के एक-दूसरे अहम क़ायदे की ओर संकेत किया गया है और वह यह है कि कोई औरत किसी मर्द के निकाह-बंधन में इस तरह न रोकी जाए कि इसके लिए नुक़्सान की वजह हो और हक़ मारने का कारण बने। सामाजिकता हो तो भलाइयों के साथ हो, अगर रोका जाए, तो भलाइयों के साथ रोका जाए, पर जहां इसकी कोई उम्मीद न हो और इसके विपरीत नुक़्सान और हक़मारी का डर हो, तो भलाई के साथ विदा करना ज़रूरी है, क्योंकि अल्लाह के रसूल सल्ल० के इर्शाद के मुताबिक़ इस्लाम के क़ानून में न कोई चीज़ नुक़्सान पहुंचाने वाली है और न वह इसकी इजाज़त देता है कि किसी को नुक़्सान पहुंचाया जाए।

> ११. "बस एक ही बीवी की ओर पूरी तरह न झुक पड़ो कि दूसरी को मानो लटकता छोड़ दो।" —अन-निसा : १२९

यह आयत यद्यपि एक ख़ास मौक़े के लिए उतरी है, पर इसके आख़िरी टुकड़ों में एक आम क़ायदे की शिक्षा दी गयी है। वह यह है कि किसी औरत को ऐसी हालत में न छोड़ा जाए कि वह एक व्यक्ति के निकाह-बंधन में बंध कर लटक जाए, अर्थात् न तो उसको शौहर की संगति ओर साथ ही नसीब हो और न किसी दूसरे व्यक्ति से निकाह कर लेने की आज़ादी हासिल हो।

> १२. "जो लोग अपनी बीवियों से बचने की क़सम खा बैठें, उनके लिए चार महीने की मोहलत है।"
>
> —अल-बक़र : २२६

इस आयत में औरत की औसत सहन-शक्ति की ओर संकेत किया गया है, अर्थात् चार महीने तक वह नुक़्सान और अल्लाह की सीमाओं के उल्लंघन के बग़ैर शौहर की सोहबत से महरूम रखी जा

सकती है।[1] इसके बाद दोनों में से किसी एक चीज़ का डर है। इस आयत का भी एक विशेष प्रसंग है, पर यह अपने प्रसंग से हट कर दूसरे मामलों में भी रहनुमाई करती है।

१३."और जो लोग अपनी बीवियों पर आरोप लगाएं और उनके पास खुद उनके अपने अलावा दूसरे कोई गवाह न हों।"

—अन-नूर: ६

इस आयत में 'लिआन' का क़ानून बताया गया है और वह यह है कि अगर कोई शौहर अपनी बीवी पर व्यभिचार का आरोप लगाये और गवाही न पेश कर सके, तो उससे चार बार क़सम ली जाएगी कि जो आरोप उसने लगाया है, वह सही है और पांचवीं बार यह कहलवाया जाएगा कि 'वह झूठा हो तो उस पर अल्लाह की लानत', इसके बाद औरत ज़िना की सज़ा से केवल इस तरह बच सकती है कि वह भी चार बार क़सम खाये कि उस के शौहर का आरोप झूठा है और पांचवीं बार यह कहे कि अगर उसके शौहर की बात सच्ची हो, तो उस पर ख़ुदा का ग़ज़ब नाज़िल हो जाय। इस तरह जब एक-दूसरे की लानत की तक्मील हो जाए, तो मिया-बीबी में जुदाई करा दी जाए।

१४."अलावा इसके कि बीवियां मह्र माफ़ कर दें या अफ़्व (क्षमा) से काम ले वह आदमी, जिसके हाथ में निकाह की गिरह है।"

—अल-बक़र: २३७

---

१. इसी क़ायदे के आधार पर हज़रत उमर रज़ि० ने यह हुक्म दिया था कि कोई विवाहित व्यक्ति लगातार चार महीने से ज़्यादा मुद्दत तक सैनिक सेवा के लिए घर से दूर न रखा जाए।

इस आयत के आख़िरी हिस्से में इस क़ायदे की व्याख्या की गयी कि विवाह-बंधन मर्द के हाथ में है और वही बांधे रखने या खोल देने का अख़्तियार रखता है। क़ुरआन मजीद में जहां कहीं तलाक़ का उल्लेख हुआ है, पुल्लिग क्रियाओं के साथ हुआ है और इस क्रिया को मर्द ही से जोड़ा गया है। यह इस बात की दलील है कि कि पति, पति होने की वजह से तलाक़ देने या न देने का पूर्ण अधिकार रखता है और कोई क़ानून ऐसा नहीं बनाया जा सकता जो उसका यह अधिकार छीन लेता हो।

लेकिन इस्लाम में ये तमाम अधिकार इस शर्त के साथ दिये गये हैं कि उनके इस्तेमाल में ज़ुल्म और अल्लाह की सीमाओं का उल्लंघन न हो। क़ुरआन में है—

> "इसलिए जो व्यक्ति अल्लाह की सीमाओं का उल्लंघन करता हो, वह ख़ुद अपने आप को इसका हक़दार बनाता है कि उसका हक़ छीन लिया जाए।"

—अत—तलाक़ : १

> "न तुम किसी का नुक़्सान करो, न तुम्हारा नुक़्सान किया जाए।"

—अल-बक़र : २७९

यह एक आम क़ायदा है, जो इस्लामी क़ानून के हर विभाग में और हर मामले में जारी होता है और मर्द का तलाक़ का हक़ भी इससे अलग नहीं। अतः जब किसी औरत को अपने शौहर से ज़ुल्म और चोट की शिकायत हो, तो यह नियम चलेगा कि 'अगर तुम किसी चीज़ में झगड़ पड़ो, तो उसे अल्लाह और रसूल की ओर लौटाओ।' और उसकी शिकायत जायज़ साबित होगी, तो क़ानून को लागू करने वालों अर्थात अधिकारियों को हक़ होगा कि शौहर को उसके अधिकार से महरूम कर के अपने आप उस अधिकार को इस्तेमाल करें। क़ाज़ी

को फ़स्ख़[1] तफ़रीक़[2] और तत्लीक़[3] के जो अधिकार शरीअत में दिये गये हैं, वे इसी बुनियाद पर आधारित हैं।

फ़ुक़हा की एक जमाअत ने 'उसके अधिकार में है विवाह-बंधन' से यह साबित किया है कि तलाक़ का जो अधिकार मर्द को दिया गया है उसके साथ कोई शर्त नहीं और इस नियम में कोई छूट नहीं और अगर मर्द तलाक़ देने पर राज़ी न हो, तो किसी हाल में क़ाज़ी को यह अधिकार नहीं है कि उस अधिकार को ख़ुद अपने हाथ में लेकर इस्तेमाल करे। लेकिन क़ुरआन मजीद इस दलील की पुष्टि नहीं करता। क़ुरआन मजीद में तो आदमी को जीवन-अधिकार 'हक़' की शर्त के साथ मिला हुआ है, कहां यह कि उसके तलाक़-अधिकार को इतना बे-छूट माना जाए कि भले ही वह ज़ुल्म करे, अल्लाह की सारी हदें तोड़ दे और दूसरे फ़रीक़ के सारे अधिकार बर्बाद कर दे, फिर भी उसका यह हक़ बे-क़ैद व शर्त बरक़रार रहे।

> १५. "तलाक़ दो बार है, फिर या रोक रखा जाए या भले तरीक़े से विदा कर दिया जाए, एहसान के साथ, फिर अगर मर्द उसको (तीसरी) तलाक़ दे दे, तो वह उसके लिए हलाल न होगी, जब तक कि उसका निकाह किसी और मर्द से न हो।"
>
> —अल-बक़र: २२९

इस आयत में तलाक़ का निसाब बयान किया गया है और वह यह है कि दो बार तलाक़ रजअी है और तीसरी बार की मुग़ल्लज़ा।

---

१. निकाह तोड़ देना।

२. मियां-बीवी को जुदा-जुदा कर देना,

३. तलाक़ का अधिकार शौहर से छीन कर के अपने अधिकार से औरत को तलाक़ दे देना।

छोटे-छोटे मस्अले

पिछले अध्याय में बुनियादी हुक्मों को जिस तर्तीब के साथ बयान किया गया है, अब उसी तर्तीब के साथ हम उन छोटे-छोटे मस्अलों को बयान करेंगे, जो इनमें से एक-एक बुनियादी बातों के तहत आते हैं। यहां हम तमाम छोटे-छोटे मस्अलों को नहीं लेना चाहते, बल्कि उन ख़ास मस्अलों को बयान करना चाहते हैं, जिनमें ज़रूरतों और ज़माने के हालात की दृष्टि से नये सिरे से फ़िक़्ही हुक्मों का स्पष्टीकरण होना ज़रूरी है।

१. दम्पति में से किसी एक का धर्मविमुख हो जाना

वर्तमान समय में धर्मविमुखता की समस्या ने विशेष महत्व धारण कर लिया है। जहां तक मर्द के धर्मविमुख होने का ताल्लुक़ है उसमें कोई पेचीदगी नहीं, क्योंकि इस पर सभी सहमत हैं कि मुसलमान औरत किसी ग़ैर-मुस्लिम के निकाह में नहीं रह सकती लेकिन औरत की धर्मविमुखता के बारे में पेचीदगी पैदा हो गयी है अधिकतर औरतें केवल इस उद्देश्य के लिए धर्मविमुख हो गयी हैं या हो रही हैं कि उन्हें ऐसे शौहरों से छुटकारा मिले, जो ज़ालिम हैं या उन्हें नापसन्द हैं। इस बारे में अंग्रेज़ी अदालतें उन ज़ाहिरी रिवायतों पर अमल करती हैं, जो हिदाया वग़ैरह में इमाम अबू हनीफ़ा रह० से नक़ल की गयी हैं, अर्थात् यह कि जब दम्पति में से कोई धर्मविमुख हो

जाए, तो जुदाई बिना तलाक़ के हो जाती है।[1] लेकिन भारत के विद्वान इस क़िस्म की धर्मविमुखता की लहर को रोकने के लिए बलख़ व समरकंद के बुज़ुर्गों और कुछ बुख़ारा के बुज़ुर्गों के फ़त्वे पर अमल करना चाहते हैं, जिसका सार यह है कि धर्मविमुखता से औरत का निकाह नहीं टूटता, बल्कि वह अपने मुसलमान शौहर के निकाह में पहले की तरह रहती है। इस फ़त्वे का आधार यह बात है कि ऐसी औरत चूंकि मात्र विवाह-बंधन से छुटकारा पाने के लिए धर्मविमुख बन जाती है, इसलिए इस बहाने को रोकने की ही शक्ल है कि निकाह पर उसकी धर्मविमुखता का कोई प्रभाव न माना जाए, पर इस फ़त्वे को क़बूल करने में कुछ कठिनाइयां हैं, जिन पर उलेमा की नज़र अभी तक नहीं पहुंची।

एक तो इस्लाम और कुफ़्र के मामले में देश का क़ानून और इस्लामी शरीअत दोनों सिर्फ़ मुख से मान लेने का एतबार करते हैं और हमारे पास कोई ऐसा साधन नहीं है, जिससे हम यह साबित कर सकें कि एक औरत दिल से धर्मविमुख नहीं हुई है, बल्कि केवल इस नीयत से धर्मविमुख हुई है कि अपने पति से जुदा हो जाए।

दूसरे,जो औरत किताबी धर्मों में से किसी धर्म में चली जाए, तो उसने उसमें तो आख़िरी दर्जे में 'अह्ले किताब में से पाक-दामन' से फ़ायदा उठा कर कहा जा सकता है कि वह मुसलमान मर्द के निकाह में रह सकती है, पर जो औरत हिन्दू या मजूसी हो जाए या किसी और ग़ैर-किताबी मज़हब में चली जाए, उसका मुसलमान मर्द के निकाह में रहना तो क़ुरआन मजीद के खुले हुक्म के ख़िलाफ़ है।

---

१. तात्पर्य यह है कि वह औरत अपने शौहर पर तो हराम हो जाती है, पर इस जुदाई से उसको यह अधिकार प्राप्त नहीं होता कि वह दूसरा निकाह कर सके।

तीसरे, जो औरत इस्लाम के क्षेत्र से निकल कर दूसरे धर्म में चली गयी है, उस पर इस्लामी क़ानून किस तरह लागू हो सकता है? हम एक ग़ैर-मुस्लिम सरकार के मातहत हैं और इस सरकार की निगाह में मुसलमान, हिन्दू, सिख समान हैं। हम उससे किस तरह यह आशा कर सकते हैं कि वह किसी ऐसी औरत को जो जैसे सिखों या आर्यों की जमाअत में शामिल हो चुकी है, उस की प्रसन्नता के ख़िलाफ़ उसी निकाह पर क़ायम रहने के लिए मजबूर करेगी जो उस से इस्लाम की हालत में, इस्लामी क़ानून के मातहत किया गया था?

ये कारण हैं, जिनके आधार पर हमारे नज़दीक धर्म-विमुखता के विषय में बलख़ व समरक़ंद के विद्वानों के फ़त्वे से मुसलमान उलेमा कोई फ़ायदा नहीं उठा सकते। वास्तव में देखने की बात यह है कि औरतें धर्मविमुख क्यों होती हैं? हम यक़ीन के साथ कह सकते हैं कि इनमें से दो-चार फ़ीसदी ही ऐसी होंगी, जिनके अक़ीदे में वास्तव में तब्दीली होती है। वास्तव में जो चीज़ उनको धर्मविमुखता की ओर ले जाती है, वह सिर्फ़ यह है कि ज़ुल्म व नुक़सान की बहुत-सी हालातों में चालू क़ानून के तहत औरतों के लिए न्याय की कोई शक्ल ही नहीं। शौहर बड़े-से-बड़ा ज़ुल्म करता है, पर बीवी उससे ख़ुलअ़ हासिल नहीं कर सकती। शौहर नाकारा है, पागल है, ख़तरनाक या घृणा करने योग्य रोगों या ख़राब बेहूदा आदत में पड़ा हुआ है। बीवी उसके नाम से नफ़रत करती है। आपसी ताल्लुक़ात ख़त्म हैं, पर विवाह-बंधन से आज़ादी का कोई रास्ता नहीं, शौहर गुम है, वर्षों से उसका पता नहीं, औरत पर ज़िंदगी दूभर हो गयी है, पर इस मुसीबत से निजात पाने की कोई सूरत नहीं। इसी क़िस्म के हालात वास्तव में औरतों को मजबूर करते हैं कि वह इस्लाम के दामन से निकल कर कुफ़्र के दामन में पनाह लें, इसकी रोक-थाम का यह कोई सही तरीक़ा नहीं है कि इधर-उधर से फ़िक़्ह की छोटी-छोटी बातें निकाल-निकाल कर लाएं, ताकि इन

हतभाग्य औरतों के लिए कुफ़्र के दामन में भी कोई पनाह पाने की गुंजाइश न रहने दी जाए और उनको धर्मविमुखता के बजाय आत्महत्या पर मजबूर किया जाए, बल्कि इसकी सही शक्ल यह है कि हम खुद अपने क़ानून पर एक नज़र डाल कर देखें और इन इज्तिहादी हुक्मों में ज़रूरतों और हालात की दृष्टि से संशोधन और सुधार करें, जिन की सख़्तियों की वजह से हमारी बहनों और बेटियों को इस्लाम की गोद से निकल कर कुफ़्र की गोद में जाना पड़ता है, जहां तक अल्लाह और रसूल के हुक्मों का ताल्लुक़ है, उन में क़तई तौर पर कोई ऐसी तंगी नहीं, जो किसी के लिए नुक़्सान पहुंचाने की वजह हो, कहां यह कि धर्मविमुखता का कारण हो। यह विशेषता केवल कुछ इज्तिहादी हुक्मों में पायी जाती है और इन हुक्मों को कुछ दूसरे इज्तिहादी हुक्मों से बदल कर मुस्लिम औरतों की धर्मविमुखता का दरवाज़ा हमेशा के लिए बन्द किया जा सकता है।

२. बालिग़ को चुनने का अधिकार

क़ुरआन मजीद में यद्यपि यह क़ायदा मुक़र्रर किया गया है कि औरत के निकाह में वलियों की राय का भी दख़ल होना चाहिए, लेकिन नबी सल्ल० ने अपनी कथनी-करनी से इस क़ायदे की जो व्याख्या की है, उससे मालूम होता है कि वलियों की राय का दख़ल होने का यह अर्थ नहीं है कि औरत अपनी ज़िन्दगी के इस अहम मामले में बिल्कुल ही बे-अख़्तियार है। इसके विपरीत हुज़ूर सल्ल० ने सकारात्मक रूप से औरत को यह हक़ दिया है कि निकाह के मामले में उसकी रज़ामंदी हासिल की जाए। चुनांचे अबूदाऊद, नसई, इब्ने माजा और मुस्नद इमाम अहमद में इब्ने अब्बास रज़ि० से यह हदीस नक़ल की गयी है कि एक लड़की ने हुज़ूर सल्ल० से शिकायत की कि मेरे बाप ने मेरी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ शादी कर दी है। आपने फ़रमाया, "तुमको रद्द

करने का भी और स्वीकार करने का भी अधिकार है।" नसई में ख़ंसा बिन्ते हिज़ाम की रिवायत है कि उनके बाप ने उनका निकाह उन की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ कर दिया था। हुज़ूर सल्ल० ने उनको भी यही अधिकार दिया। दारे क़ुत्नी में हज़रत जाबिर रज़ि० की रिवायत है कि ऐसे ही एक मुक़दमे में हुज़ूर सल्ल० ने केवल इस आधार पर दम्पति में अलगाव करा दिया कि निकाह लड़की की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ हुआ था। नसई में हज़रत आइशा रज़ि० से रिवायत है कि एक लड़की ने हुज़ूर सल्ल० से शिकायत की कि उसके बाप ने उसकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ अपने भतीजे से उसका निकाह कर दिया है। हुज़ूर सल्ल० ने उसको अधिकार दिया कि चाहे क़ुबूल करे, चाहे रद्द करे। इस पर उसने अर्ज़ किया—

"ऐ अल्लाह के रसूल सल्ल० ! मेरे बाप ने जो कुछ किया है, इसे मैंने मंजूर किया, मेरा मक़्सद तो सिर्फ़ औरतों को यह बताना था कि उनके बाप इस मामले में आज़ाद नहीं हैं।"

मुस्लिम, अबूदाऊद, तिर्मिज़ी, नसई और मुअत्ता में हुज़ूर सल्ल० का इर्शाद नक़ल किया गया है—

"शौहर देखी हुई औरत अपने वली से बढ़ कर अपने नफ़्स के मामले में फ़ैसला करने का हक़ रखती है और कुंवारी से उसके नफ़्स के मामले में इजाज़त ली जाए।"

हज़रत अबू हुरैरह रज़ि० से रिवायत है कि हुज़ूर सल्ल० ने फ़रमाया—

"शौहर देखी औरत का निकाह न किया जाए, जब तक कि उससे इजाज़त न ले ली जाए और कुंवारी का निकाह न किया जाए, जब तक कि उसकी इजाज़त न ले ली जाए।"

३. वली कितना अधिकारी?

ऊपर जो रिवायतें नक़ल की गयी हैं, वे सब इस बात की दलील हैं कि शरीअत की बुनियादों में एक बुनियाद यह भी है कि निकाह के लिए औरत की रज़ामंदी ज़रूरी है। अब सवाल यह है कि अगर किसी नाबालिग़ लड़की का निकाह उसका बाप या कोई वली कर दे, तो क्या इस शक्ल में उसका यह हक़ कि उसके नफ़्स के मामले में उसकी मर्ज़ी का दख़ल हो, समाप्त हो जाएगा? इस विषय में हमारे फ़ुक़हा ने यह फ़त्वा दिया है कि अगर नाबालिग़ लड़की का निकाह उसके बाप-दादा के सिवा किसी और ने किया हो, तो लड़की को हक़ होगा कि बालिग़ होने पर उसे चाहे क़ुबूल करे, चाहे रद्द कर दे, लेकिन अगर बाप-दादा ने किया हो तो उसे यह हक़ न होगा अलावा इसके कि बाप-दादा का अधिकार का दुरुपयोग करने वाला होना साबित हो जाए, जैसे यह कि वह अवज्ञाकारी या बेहया है या अपने मामलों में बुरी तदबीर वाला और अदूरदर्शी होने के लिए मशहूर है।

यह मस्अला कि बाप और दादा को नाबालिग़ लड़की पर जाबिराना हक़ हासिल है और उनके किये हुए निकाह को लड़की बालिग़ होने पर नामंजूर नहीं कर सकती। क़ुरआन मजीद की किसी आयत या नबी सल्ल० की किसी हदीस से यह साबित नहीं,[1] बल्कि

---

१. मब्सूत में इमाम सरख़सी ने ले-देकर केवल एक तर्क प्रस्तुत किया है और वह यह है कि हज़रत अबूबक्र रज़ि० ने नबी सल्ल० से हज़रत आइशा का निकाह नाबालिग़ी की हालत में किया था। फिर जब हज़रत आइशा रज़ि० बालिग़ हुई, तो हुज़ूर सल्ल० ने उनसे यह नहीं फ़रमाया कि तुम्हें इस निकाह के क़ुबूल करने या न करने का अधिकार है, हालांकि अगर नाबालिग़ लड़की को यह अधिकार मिला होता, तो जिस तरह क़ुरआन मजीद की 'अख़्तियार वाली आयत' के उतरने पर आप ने उनको अधिकार दिया था, उसी तरह इस मामले में भी ज़रूर अधिकार देते। —अल-मब्सूत, भाग ४, पृ.-२१३

मात्र फ़ुक़हा के इस अनुमान पर आधारित है कि बाप-दादा चूंकि लड़की का बुरा नहीं चाह सकते, इसलिए लड़की पर उनका किया हुआ निकाह अनिवार्य होना चाहिए, चुनांचे हिदाया में इसी तरह की बातें लिखी गयी हैं।

इससे मालूम हुआ कि वली के अधिक अधिकार के हक़ में बड़ी तलाश के बाद भी इस कमज़ोर दलील के सिवा कोई दलील किताब व सुन्नत से नहीं लायी जा सकती है और यह दलील इतनी कमज़ोर है कि हमें शम्सुल अइम्मा सरख़सी रह० जैसे व्यक्ति पर हैरत है कि उन्होंने किस तरह इतनी बड़ी एवं अहम समस्या की, जिस का प्रभाव असंख्य औरतों से हमेशा के लिए एक हक़ छीने जाने की शक्ल में सामने आता है, इस दलील पर नतीजा निकाल लेने को दुरुस्त समझा, यह कहना कि हदीस के अनुसार बाप के किये हुए निकाह में लड़की को बालिग़ होने पर चुनने का अधिकार बाक़ी नहीं है, अगर सही हो सकता था, तो इस शक्ल में हो सकता था, जबकि हज़रत आइशा रज़ि० ने बालिग़ होकर अपने पिता के किये हुए निकाह को नामंजूर किया होता, या उसके मुक़ाबले में बालिग़ होने पर अपने अधिकार को इस्तेमाल करने का हक़ मांगा होता और नबी सल्ल० ने उनको यह जवाब दिया होता कि नहीं अब तुम्हें यह हक़ नहीं रहा, क्योंकि तुम्हारा निकाह नाबलिग़ी के ज़माने में तुम्हारे बाप ने किया था, लेकिन ऐसी कोई रिवायत मौजूद नहीं है, बल्कि किसी रिवायत में इसका भी ज़िक्र नहीं किया गया है कि हज़रत आइशा रज़ि० ने खुले शब्दों में यह कहा हो कि नबी सल्ल० ने मुझे इस मामले में कोई अधिकार नहीं दिया। दलील की सारी बुनियाद सिर्फ इतनी-सी बात पर रखी गयी है कि नबी सल्ल० का हज़रत आइशा रज़ि० को चुनने का अधिकार देना चूंकि किसी रिवायत में नहीं है, इसीलिए यह माना जाएगा कि आपने उनको चुनने का अधिकार नहीं दिया और चूंकि आपने उनको चुनने का अधिकार नहीं दिया, इसलिए हम इससे यह नतीजा निकालते हैं कि ऐसी लड़की को चुनने का अधिकार प्राप्त ही नहीं है।

लेकिन यह मात्र अनुमान पर आधारित राय है, जो खुदा और रसूल सल्ल० के हुक्मों की तरह न मुह्कम (मज़बूत) है और न हो सकती है। इस पर कई हैसियत से आपत्ति की जा सकती है।

१. एक यह कि हदीस सही है कि नबी सल्ल० ने हज़रत हमज़ा रज़ि० की लड़की का निकाह कम उम्र में उमर बिन अबी मुस्लिमा से

इस पूरी दलील को पेश करते वक़्त शम्सुल अइम्मा को न तो यह याद रहा कि किसी घटना का रिवायतों में न आना, इस घटना के पेश न आने की दलील नहीं हो सकता और न उन्हें यही ख़्याल आया कि जो लड़की बालिग़ होने के बाद अपने बाप के फ़ैसले पर राज़ी थी, जिसने उस पर किसी नाराज़ामंदी को ज़ाहिर नहीं किया था, जिसने बाप के मुक़ाबले में बालिग़ होने पर चुनने का अधिकार इस्तेमाल करने की सिरे से मांग ही नहीं की थी, अगर उसे अधिकार न दिया गया तो आख़िर यह इस बात की दलील कब बन सकता है कि बाप के मुक़ाबले में लड़की को बालिग़ होने पर चुनने का अधिकार सिरे से हासिल ही नहीं है। ऐसी दलीलों से अगर अधिकार छीने जाने लगें, तो एक व्यक्ति यों भी दलील ला सकता है कि चूंकि फ़्लां और फ़्लां आदमी को (जिसने पानी सिरे से मांगा ही न था) पानी नहीं दिया गया, इसलिए किसी को पानी नहीं दिया जाना चाहिए।

इससे भी अजीब शम्सुल अइम्मा की यह दलील है कि अगर लड़की को बाप के मुक़ाबले बालिग़ होने के बाद चुनने का अधिकार प्राप्त होता, तो नबी सल्ल० हज़रत आइशा रज़ि० की तलब के बिना भी उनको यह अधिकार ज़रूर देते, क्योंकि चुनाव के अधिकार की आयत उतरने के बाद आप ने उनको चुनने का अधिकार दिया। दूसरे शब्दों में,शम्सुल अइम्मा की दलील यह है कि जो काम एक मामले में अल्लाह का हुक्म आने पर नबी सल्ल० ने किया, वही काम एक दूसरे मामले में भी आप ज़रूर करते, जबकि इस मामले में अल्लाह ने आप को कोई हुक्म नहीं दिया था। उलेमा चाहते हैं कि ऐसी कमज़ोर बातें इस धौंस की वजह से आंखें बन्द करके मान ली जाएं कि जो उन्हें न मानेगा, उस पर ग़ैर-मुक़ल्लिदी का ठप्पा लगा दिया जाएगा।

कर दिया और फ़रमाया कि बालिग़ होने के बाद उसे रद्द या क़ुबूल करने का अधिकार है। इस हदीस से नाबालिग़ लड़की के लिए बालिग़ होने पर चुनने का अधिकार स्पष्ट सिद्ध होता है, क्योंकि हुज़ूर सल्ल० ने ऐसा कोई स्पष्टीकरण नहीं किया, "मैं चूंकि लड़की का बाप नहीं, बल्कि चचेरा भाई हूँ, इसलिए मेरा किया हुआ निकाह उसके लिए अनिवार्य नहीं।"

२. दूसरे यह कि यह अजीब बात है कि हर लड़की बालिग़ हो, तो बाप या दादा के मुक़ाबले में उसे अपनी राय इस्तेमाल करने का अधिकार प्राप्त हो, लेकिन वही लड़की अगर नाबालिग़ हो, तो उसका हक़ बिल्कुल ही छीन लिया जाए, हालांकि निकाह के मामले के साथ औरत के ताल्लुक़ के जिस महत्व को ध्यान में रख कर शारेअ ने उसको यह हक़ दिया है, वह दोनों हालतों में समान है। अगर किसी के 'अच्छी राय रखनेवाला' और 'प्रेम में अधिक' होने के कारण उसको वली होने का अधिकार मिल सकता है, तो वह बालिग़ होने की हालत में भी उसी तरह होना चाहिए, जिस तरह नाबालिग़ होने की हालत में उसके लिए साबित किया जाता है, लेकिन जब बालिग़ लड़की पर किसी को ज़बरदस्ती वली होने का हक़ हासिल नहीं है, तो नाबालिग़ लड़की पर क्यों हासिल हो?

३. तीसरे यह कि बाप-दादा का 'प्रेम में अधिक' और 'अच्छी राय रखने वाला' होना कोई यक़ीनी और सिद्ध बात नहीं है। केवल अधिकता को देखकर एक अनुमान कर लिया गया है, पर इस अनुमान के ख़िलाफ़ भी बहुत-सी घटनाएं देखी गयी हैं और देखी जाती हैं, जिनसे प्रेम की ज़्यादती का सबूत और बेहतर राय होने का सबूत कमतर मिलता है।

४. चौथे यह कि अगर यह अनुमान सही भी हो, तो इसकी बहुत बड़ी संभावना है कि बाप-दादा नेकनीयती के साथ अधिक प्रेम और राय में कमाल रखते हुए एक कम उम्र लड़की का निकाह एक कमसिन लड़के से कर दें और लड़का जवान होकर उनकी आशाओं के ख़िलाफ़ नालायक निकले, मुख्य रूप से वर्तमान समय में, जबकि इस्लामी प्रशिक्षण की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी है, शिक्षा-दीक्षा की ख़राबियों से बड़े ख़राब चरित्र पैदा हो रहे हैं और मुसलमानों के आस-पास ऐसा ख़राब माहौल पाया जाता है, जिसके बुरे प्रभाव लड़कों के चरित्र व आचरण पर पड़ रहे हैं, इस बात की सख़्त ज़रूरत है कि कमसिनी के निकाहों की रोकथाम की जाए और कम-से-कम ऐसे निकाहों को ज़रूरी न किया जाए, क्योंकि अधिकतर लड़के, जिनसे शुरू में अच्छी आशाएं की जाती हैं, आगे चल कर घोर दुराचरण, बुरी आदतों और बिगाड़ पैदा करने वाले विचारों में पड़ जाते हैं और उस वक़्त बाप-दादा का वली बनने का अधिकार ख़ुद उनके लिए एक मुसीबत बन जाता है।

५. पांचवें यह कि अगर बाप-दादा बुरे हों, तो एक लड़की के लिए बहुत मुश्किल है कि उनके मुक़ाबले में बालिग़ होने के बाद चुनाव करने के अधिकार का इस्तेमाल कर सके, क्योंकि ऐसी हालत मेंउस को अदालत में अपने बाप-दादा के ख़िलाफ़ बदनीयती, गुनाह के काम, बेहयाई, ग़लत सूझ-बूझ और मूर्खता आदि का सबूत पेश करना होगा और यह उसके लिए न केवल कठिन है, बल्कि बहुत बुरा भी है।

इन कारणों से फ़िक़्ह के इस अंश पर दोबारा विचार करने की ज़रूरत है और मस्लहतों का तक़ाज़ा यह है कि इस ख़ालिस इज्तिहादी मस्अले में संशोधन करके छोटे लड़के और लड़की को हर हाल में

बालिग़ होने के बाद चुनने का अधिकार दिया जाए।[1]

४. बालिग़ के चुनने की शर्तें

इस सिलसिले में फ़ुक़हा का एक दूसरा इज्तिहादी मस्‌अला भी विचारणीय है। बाप-दादा के सिवा दूसरे वलियों के सिलसिले में उनका फ़त्वा यह है कि अगर उन्होंने कमसिन कुंवारी का निकाह कर दिया हो, तो वह बालिग़ होने के बाद चुनने के अधिकार का इस्तेमाल कर सकती है, किन्तु शर्त यह है कि बालिग़ होने की पहली पहचान ज़ाहिर होते ही, बिना देर किये, वह अपनी रज़ामंदी ज़ाहिर कर दे। अगर पहली माहवारी का ख़ून ज़ाहिर होते ही उसने तुरन्त इसका एलान न किया तो उसका अधिकार समाप्त हो जाएगा। मज़े की बात यह है कि यह शर्त केवल कुंवारी के लिए रखी गयी है। शौहर देखी हुई[2] और नाबालिग़ लड़के के लिए यह हुक्म है कि बालिग़ होने के बाद जब तक वे अपनी रज़ामंदी स्पष्ट न करें उनको चुनाव का अधिकार प्राप्त रहेगा।

यह शर्त जो नाबालिग़ लड़की के लिए रखी गयी है, इसका सबूत हमको क़ुरआन और हदीस में नहीं मिला। यह भी एक इज्तिहादी मस्‌अला है और इसमें भी संशोधन की ज़रूरत है। बालिग़ होने के बाद चुनने की शर्त का कारण इसके अलावा कुछ नहीं है कि इस उम्र को पहुंच कर इंसान में बुरे और भले का अन्तर समझ में आता है और वह अपनी बुद्धि से काम लेकर अपने मामले में ज़िम्मेदाराना फ़ैसला

---

१. हमने नाबालिग़ लड़के का मस्‌अला यहां इसलिए नहीं छेड़ा कि इसे फिर भी तलाक़ का हक़ हासिल है।

२. शौहर देखी हुई औरत, अगर कोई लड़की बालिग़ होने से पहले मर्द के सहवास को समझ चुकी हो चाहे निकाह की शक्ल में या ज़िना की शक्ल में, तो वह भी शौहर देखी औरत ही कहलायेगी।

कर सकता है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि बालिग़ होने की पहली पहचान ज़ाहिर होते ही उसके भीतर कोई बड़ी क्रान्ति आ जाती है और आनन-फानन में उसमें राय बनाने की क्षमतायें उभर आती हैं, फिर भी मान लिया जाए कि ऐसा होता है, तो शौहर देखी औरत और नाबालिग़ लड़के का हाल कुंवारी के हाल से भिन्न नहीं हो सकता। अतः जब इन दोनों के बालिग़ होने के बाद चुनने के अधिकार को उस समय तक के लिए आगे बढ़ाया गया है, जब तक वे वचन या कर्म से अपनी रज़ा स्पष्ट न कर दें, तो कोई वजह नहीं कि आख़िर कुंवारी ही को क्यों सोचने-समझने और राय क़ायम करने के लिए काफ़ी समय न दिया जाए। एक नातजुर्बेकार कुंवारी एक शौहर देखी औरत और एक नाबालिग़ मर्द के मुक़ाबले में इस बात की ज़्यादा हक़दार है, क्योंकि वह गरीब तो इन दोनों से ज़्यादा नातजुर्बेकार होती है।

५. महर

महर के मामले में यह बात सर्वमान्य है कि अल्लाह और रसूल के क़ानून में उसके लिए कोई आख़िरी हद मुक़र्रर नहीं की गयी। प्रसिद्ध घटना यह है कि हज़रत उमर रज़ि० ने अपने दौर में इसके लिए चालीस औक़िया की इंतिहाई हद तय करनी चाही थी, पर एक औरत ने उनको टोक कर कहा, 'अगर तुमने औरतों को ढेर-सा माल भी दिया हो, तो उसमें से तुम कुछ वापस न लो,' के अनुसार आपको ऐसा करने का हक़ नहीं है। इस दलील को सुन कर हज़रत उमर रज़ि० ने फ़रमाया, "एक औरत ने सही बात कही और मर्द ग़लती कर गया।" अतः जहां तक महर की हदबंदी का ताल्लुक़ है, क़ानून में उसके लिए कोई गुंजाईश नहीं, लेकिन सही हदीसों से साबित है कि महर की ज़्यादती में अतिशयोक्ति करना और मर्द की सहन-शक्ति से ज़्यादा महर बांधना एक नापसंदीदा काम है। हुज़ूर सल्ल० ने फ़रमाया—

"औरतों को मर्दों के पल्ले बांधने की कोशिश करो और महरों में हद से न बढ़ो।"

अबू अम्र अस्लमी ने एक औरत से दो सौ दिरहम पर निकाह किया, तो आपने फ़रमाया–

"अगर तुमको नदी-नालों में दिरहम बहते हुए मिलते, तब भी तुम शायद इससे ज्यादा महर न बांधते।"

हज़रत अनस रज़ि० ने एक औरत से चार औक़िया (१६० दिरहम) पर निकाह किया, तो हुज़ूर सल्ल० ने फ़रमाया, "मानो कि तुम इस पहाड़ में से चांदी खोद-खोद कर निकाल रहे हो।"

हज़रत उमर रज़ि० का कथन है, "औरत के महर मुक़र्रर करने में हद से न बढ़ो। अगर यह दुनिया में इज़्ज़त और आख़िरत में तक़्वा की बात होती, तो तुमसे ज़्यादा अल्लाह के रसूल सल्ल० उसको अपनाते, मगर आप की पत्नियों और सुपुत्रियों में से तो किसी का महर भी बारह औक़िया से ज़्यादा न था।"

यह तो महर के ज़्यादा होने के बारे में है, लेकिन हमारे देश में जो चलन हो गया है, वह इससे भी ज़्यादा बुरा है। यहां हज़ारों, लाखों रुपए की दस्तावेज़ें 'महरे मुअज्जल' (समय पर दी गयी महर) के तौर पर लिख दी जाती हैं, पर न इतनी बड़ी-बड़ी रक़मों का अदा करना उन के लिखने वालों के बस में होता है और न लिखते वक़्त वे इस नीयत से लिखते हैं कि कभी उनको यह महर अदा करना है। यह चीज़ नापसंदीदगी की हद से गुज़र कर निकाह के लिए बिगाड़ का कारण है, क्योंकि नबी सल्ल० ने स्पष्ट शब्दों में फ़रमाया है–

"जिसने ऐसे महर के माल के बदले किसी औरत से निकाह किया और नीयत यह रखी कि इस महर को अदा न करेगा, वह असल में

ज़िना करने वाला है और जिसने क़र्ज़ लिया और नीयत यह रखी कि इस क़र्ज़ को अदा नहीं करना है, वह असल में चोर हैं।''[1]

यह इस क़िस्म के महरों का भीतरी दोष है। रहा बाहरी दोष, तो वह भी कुछ कम अहम नहीं। इस क़िस्म के महर बांधने का वास्तविक उद्देश्य यह होता है कि शौहर तलाक़ न दे सके, लेकिन इसका नतीजा यह होता है कि अगर मियां-बीवी में निबाह न हो और दोनों मिल-जुल कर न रह सकें, तो महर की यही ज़्यादती औरत के लिए मुसीबत बन जाती है। शौहर केवल महर की नालिश की डर से उसको तलाक़ नहीं देता और वर्षों, बल्कि सारी उम्र के लिए वह बेचारी लटकी पड़ी रहती है। आजकल जिन चीज़ों ने औरत को आमतौर पर मुसीबत में डाल रखा है, उनमें से एक अहम चीज़ यही महर की ज़्यादती है। अगर इसमें सन्तुलन दिखाया जाए, तो क़रीब ७५ प्रतिशत कठिनाइंया पैदा होने से पहले ही हल हो जाएं।

हमारे नज़दीक इसके सुधार के लिए शरीअत के नियमों के उल्लंघन से बचते हुए यह सूरत अपनायी जा सकती है कि महर अगर

---

१ इस हदीस से महर के मामले की जो अहमियत ज़ाहिर हो रही है, उसी वजह से मैं ऐसे तमाम लोगों को जिन के महर आम रस्म के मुताबिक़ उनके सामर्थ्य से बहुत ज़्यादा बांधे गये हों, यह मशिवरा दूंगा कि वे अपनी बीवियों को महर में इस हद तक कमी क़ुबूल करने पर राज़ी करें, जिसे वे एकमुश्त या किस्तों में अदा कर सकते हैं और नेक बीवियों को भी मैं मशिवरा देता हूं कि वे इस कमी पर राज़ी हो जाएं, साथ ही ख़ुदा से डरने वाले मुसलमानों को महर के बोझ से हल्का होने में जहां तक मुम्किन हो, जल्दी करनी चाहिए। महर एक प्रकार का क़र्ज़ है और अपने ज़िम्मे जान-बूझ कर या बेपरवाई के साथ क़र्ज़ छोड़ कर मर जाना इतनी बुरी बात है कि नबी सल्ल० ने ऐसे व्यक्ति की जनाज़े की नमाज़ पढ़ने से इंकार किया है।

मुअज्जल[1] हो, तो दोनों फ़रीक़ आज़ाद हैं कि बिना किसी हद व इंतिहा के जितना चाहें, मुक़र्रर कर लें, लेकिन अगर वह मुवज्जल[2] हो, तो अनिवार्य कर लिया जाए कि उसकी दस्तावेज़ बाक़ायदा स्टाम्प पर लिखी जाए और महूर की रक़म पर पचास फ़ीसदी रक़म का स्टाम्प लगाया जाए। स्टाम्प के बिना या ५० फ़ीसदी से कम क़ीमत के स्टाम्प पर महूर की कोई दस्तावेज़ दावा दाख़िल करने के क़ाबिल न हो। इस प्रकार का नियम अगर बना लिया जाय, तो महूर मुवज्जल का यह दोष आसानी से दूर हो जाएगा, उस वक़्त लोग मजबूर होंगे कि अपनी सामर्थ्य के अनुसार महूर मुक़र्रर करें और बेकार की बातों में रुपया ख़र्च करने के बजाए नक़द माल व जायदाद की शक्ल में निकाह के वक़्त ही महूर अदा करें। हालात के सुधर जाने पर यह शर्त उड़ायी जा सकती है।

६. नफ़क़ा (गुज़ारा-भत्ता)

इस विषय में झगड़े की दो शक्लें हैं :—

१. एक यह कि शौहर नफ़क़ा देने का सामर्थ्य रखता हो, पर न दे और,

२. दूसरी शक्ल यह है कि उस में सामर्थ्य ही न हो।

पहली शक्ल में इस पर सभी सहमत हैं कि क़ाज़ी उसको नफ़क़ा अदा करने पर हर संभव तरीक़े से मजबूर कर सकता है, लेकिन अगर वह क़ाज़ी के हुक्मों को न माने, तो इसमें मतभेद है कि ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए?

हनफ़ियों का यह मत है कि ऐसी स्थिति में कुछ नहीं हो सकता।

---

१. जो तुरंत अदा कर दी जाए।

२. जो एक मुद्दत के बाद अदा की जाए।

औरत खुद ही अपने नफ़क़े का प्रबन्ध करे, चाहे शौहर के नाम पर क़र्ज़ लेकर, चाहे मेहनत-मज़दूरी करके, चाहे अपने किसी रिश्तेदार से मदद लेकर।

इसके ख़िलाफ़ मालकियों का मत यह है कि ऐसी स्थिति में क़ाज़ी को खुद ही तलाक़ वाक़ेअ कर देने का हक़ है।

कुछ हनफ़ी उलेमा ने मालकियों के इस फ़त्वे को अपनाना पसन्द किया है, मगर इस शर्त के साथ कि औरत खुद नफ़क़ा का इंतिज़ाम न कर सकती हो या अगर कर सकती हो, तो शौहर से अलग रहने में उसके आर्थिक संकट में फंस जाने का डर हो, लेकिन यह शर्त कुछ सही नहीं मालूम होती। क़ुरआन मजीद के अनुसार नफ़क़ा औरत का हक़ है, जिसके मुआवज़े ही में उसपर शौहर के दाम्पत्य अधिकार प्राप्त होते हैं। जब कोई व्यक्ति जानबूझ कर इस हक़ को अदा करने से इंकार कर रहा हो, तो कोई वजह नहीं कि औरत को ज़बरदस्ती उसके विवाह-बंधन में बंधे रहने पर मजबूर किया जाए। चीज़ लेकर उसका बदल और माल लेकर उसकी क़ीमत अदा करने से जो व्यक्ति इंकार करे, वह आख़िर उस चीज़ और माल का हक़दार कैसे रह सकता है? जब तक औरत किसी व्यक्ति के निकाह में है, उसके पालन-पोषण का ज़िम्मेदार उसका शौहर है। ऐसी हालत में उसको खुद रोज़ी कमाने या अपने रिश्तेदारों पर दबाव डालने या एक ज़ालिम शौहर के नाम से क़र्ज़ हासिल करने की असंभव कोशिश करने का कष्ट आख़िर किस न्याय-नियम के आधार पर किया जाए।

दूसरी शक्ल में फिर हनफ़ियों का मत यही है कि औरत को धैर्य और परख की हिदायत की जाएगी और उससे कहा जाएगा कि क़र्ज़ लेकर या किसी रिश्तेदार से मदद लेकर गुज़र करे।

इमाम आज़म रह० के नज़दीक ऐसी औरत का नफ़क़ा हर उस

व्यक्ति पर अनिवार्य है, जिसपर उसके पालन-पोषण का बोझ पड़ता अगर वह बिन ब्याही होती। लेकिन इमाम मालिक रह०, इमाम शाफ़ई रह० और इमाम अहमद बिन हंबल का मत यह है कि अगर औरत ऐसे शौहर के साथ ज़िदगी बसर न कर सकती हो और जुदाई का दावा करे तो जुदाई करा दी जाएगी।

इमाम मालिक रह० की राय में शौहर को एक महीना या दो महीने या किसी मुनासिब मुद्दत तक मोहलत दी जाएगी। इमाम शाफ़ई सिर्फ़ तीन दिन की मोहलत देते हैं और इमाम अहमद का फ़त्वा यह है कि अविलम्ब दम्पति में जुदाई करा दी जाए।

इस विषय में न केवल क़ुरआन मजीद का वह नियम जो 'और इस लिए कि उन्होंने अपने माल ख़र्च किये' में बयान किया गया है, तीनों इमामों की ताईद करता है, बल्कि हदीसों व आसार से भी इसकी ताईद होती है।

दारे क़ुत्नी और बैहक़ी में नबी सल्ल० का यह फ़ैसला नक़ल किया गया है कि नफ़क़ा न देने की शक्ल में दम्पति के बीच जुदाई करा दी जाए। हज़रत अली, हज़रत उमर और हज़रत अबू हुरैरह रज़ि० से भी यही कथन नक़ल किया गया है। ताबईन में से सईद बिन मुसय्यिब का भी यही फ़त्वा है और हज़रत उमर बिन अब्दुल अज़ीज़ ने भी छान-बीन करके इसी के मुताबिक़ अमल किया है।

इस के ख़िलाफ़ हनफ़ियों की दलील इस आयत में है—

''जिस को नपी-तुली रोज़ी दी गयी हो, उसको अपने उसी सामर्थ्य के अनुसार नफ़क़ा देना चाहिए, जो अल्लाह ने उसे दिया है।

लेकिन इस आयत से सिर्फ़ इतना साबित होता है कि नफ़क़ा के लिए शरई तौर पर कोई मात्रा तय नहीं है, बल्कि नफ़क़ा देने वाले की

हैसियत पर निर्भर है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जहां नफ़क़ा सिरे से मौजूद ही न हो, वहां औरत को बिना नफ़क़ा गुज़र करने पर मजबूर किया जाए। बेशक यह बुलन्दी की बात है कि एक औरत मुसीबत और भुखमरी में भी अपने शौहर का साथ दे। इस्लाम ऐसी बुलन्दी की शिक्षा देता है और एक शरीफ़ औरत को ऐसा ही होना चाहिए, किन्तु नैतिक शिक्षा और चीज़ है और शरई हक़ दूसरी चीज़। नफ़क़ा औरत का शरई हक़ है। अगर वह राज़ी-ख़ुशी से उसको छोड़ दे और उसके बिना ही शौहर के साथ रहना पसन्द करे, तो अति प्रशंसनीय है, लेकिन अगर वह उसको न छोड़ना चाहे या न छोड़ सके, तो इस्लामी क़ानून के न्याय में इस बात की गुंजाइश नहीं कि उसको तक्लीफ़ और जब्र के साथ ऊंचे स्थान पर ठहराने की कोशिश की जाए।

अतः हमारे नज़दीक इस विषय में तमाम मतों में से बेहतर मत इमाम मालिक रह० का है, जो शौहर को मुनासिब मोहलत देने के बाद जुदाई का हुक्म देते हैं।

७. अनुचित अत्याचार

> "और जिन औरतों से तुम्हें सरकशी का डर हो, उन्हें समझाओ, बिस्तरों पर उनसे अलग रहो और मारो, अगर वे तुम्हारी बात मान लें, तो ख़ामख़ाही उन पर हाथ उठाने के लिए बहाने न खोजो।" सूरः निसाः ३३-३४

उपर्युक्त आयत के अनुसार शौहर को यह हक़ नहीं है कि बिना किसी जायज़ वजह के अपनी बीवी पर किसी क़िस्म की सख़्ती करे, चाहे वह जिस्म को पहुंचायी गयी चोट हो या मुंह से दी गयी तक्लीफ़, अगर वह ऐसा करे, तो औरत को क़ानून की पनाह लेने का अधिकार

है। इस विषय में कोई विस्तृत आदेश हमको नहीं मिल सका है, लेकिन हम समझते हैं कि इस्लामी क़ानून के नियमों में इसकी गुंजाइश है कि क़ाज़ी को ऐसे ज़ुल्मों से औरत की हिफ़ाज़त और असह्य परिस्थितियों में जुदाई कराने का अधिकार दिया जा सकता है। आजकल हम देखते हैं कि कुछ तबक़ों में औरतों के साथ नामुनासिब बर्ताव का आम चलन हो गया है और शौहर होने का अर्थ यह लिया जा रहा है कि वह ज़ुल्म व ज़्यादती का असीमित लाइसेन्स है। इसलिए ज़रूरत है कि क़ानून में इसके बारे में उचित हुक्मों की वृद्धि की जाए और कुछ नहीं तो कम-से-कम इतना तो ज़रूर होना चाहिए कि मार-पीट और गाली-गलौज की आदत को ख़ुलअ़ की जायज़ वजहों में गिना जाए और ऐसी औरतों को बे-मुआवज़ा ख़ुलअ़ दिलवाया जाए, ज़िनके शौहरों की इस आदत का सबूत मिल जाए।

८. पंच मानना

इस सिलसिले में हज़रत अली रज़ि० न जो कार्य-पद्धति अपनाया है, वह सही रहनुमाई करता है। कश्फ़ुल ग़ुम्मा में है कि आप के पास एक मर्द और उसकी बीवी का मुक़दमा आया। आपने क़ुरआन मजीद के फ़रमान, 'तो भेजो एक हकम (पंच) मर्द के ख़ानदान में से और एक औरत के ख़ानदान में से' के अनुसार हुक्म दिया कि दोनों अपनी-अपनी तरफ़ से एक-एक हकम तज्वीज़ करें, फिर दोनों हकमों (पंचों) को सम्बोधित कर के फ़रमाया :—

"तुम्हारा काम यह है कि अगर दोनों को मिलाना उचित समझो, तो मिला दो और अलगाव करना मुनासिब समझो, तो अलगाव कर दो।"

फिर औरत से मालूम किया—

"क्या तू इन दोनों पंचों के फ़ैसले पर राज़ी है?"

उसने अर्ज़ किया, "हां, मैं राज़ी हूं।"

इसके बाद मर्द से यही सवाल किया गया। उसने कहा, अगर वे मिला दें, तो मुझे उनका फ़ैसला क़ुबूल है और अगर अलगाव करें, तो मुझे क़बूल नहीं।

इस पर आपने फ़रमाया—

"तुझे इसका हक़ नहीं, तू यहां से नहीं जा सकता, जब तक कि इसी तरह तू भी अपनी रज़ामंदी का इक़रार न करे, जिस तरह इस औरत ने किया है।"

मियां-बीवी के ऐसे घरेलू झगड़ों में, जिनका ताल्लुक़ बड़े और अहम मसूअलों से न हो, पंच बनाने के इस तरीक़े को अपनाना ज़्यादा सही है और ज़रूरत है कि इसके बारे में क़ानून में ऐसी कुछ धाराओं की वृद्धि की जाए, जिसमें पंच बनाने के तरीक़े और दोनों पंचों के अधिकारों और उनके सर्वसम्मति फ़ैसले को लागू करने के तरीक़े और मतभेद की शक्ल में अदालत की कार्य-पद्धति का स्पष्टीकरण कर दिया जाए। इस्लामी क़ानून में यह एक बड़ी क़ीमती चीज़ है कि घरेलू झगड़ों को यथासंभव खुली अदालत में बहस कराने से बचा जाए और अगर अदालतों में ऐसे मामले आएं भी, तो अदालत का हाकिम उनकी जांच और उनका फ़ैसला करने से पहले दोनों परिवारों के ज़िम्मेदार व्यक्तियों से इस गुत्थी के सुलझाने में मदद ले। इस तज्वीज़ को सामाजिक-जीवन के लिए एक रहमत समझना चाहिए।

९. ऐबों की हालत में निकाह ख़त्म करने का अधिकार

दम्पति के ऐबों के विषय में फ़ुक़हा के बीच बहुत ज़्यादा मतभेद हुए है : एक गिरोह इस ओर गया है कि औरत और मर्द के किसी ऐब

की वजह से दूसरे फ़रीक़ को ख़यारे फ़स्ख़[1] नहीं है। चुनांचे दुर्रे मुख़्तार में है–

"मियां-बीवी में से किसी को भी दूसरे के किसी ऐब पर फ़स्ख़े निकाह का अधिकार नहीं, चाहे वह ऐब कैसा ही सख़्त हो, जैसे, जुनून (पागलपन), जुज़ाम (कोढ़), रत्क़ और क़र्न।"

सहाबा रज़ि० में से हज़रत अली रज़ि० और इब्ने मसूऊद रज़ि० और मुज्तहिद इमामों में से अता, नख़ई, उमर बिन अब्दुल अज़ीज़, इब्ने अबी लैला, औज़ाअी, सौरी, अबू हनीफ़ा, और अबू यूसुफ़ रज़ि० का यही मत है।

दूसरा गिरोह कहता है कि तमाम ऐब, जो मियां-बीवी के ताल्लुक़ में रुकावट पैदा करें, उनमें औरत और मर्द दोनों को ख़यारे फ़स्ख़ है, जैसे जुनून (पागलपन), जुज़ाम (कोढ़), बर्स (सफ़ेद दाग़), गन्दा देहनी, गन्दे रोग और शर्मगाह (गुप्तांग) के ऐसे रोग जो क़रीब होने में रुकावट पैदा करें। यह इमाम मालिक का मत है।

चुनांचे इब्ने जौज़ी ने 'अल-क़वानीन' में उपर्युक्त ऐबों का विवेचन करने के बाद स्पष्ट किया है।–

"अगर इन ऐबों में से कोई ऐब औरत या मर्द में हो, तो दूसरे फ़रीक़ को अधिकार है कि उसके साथ रहना स्वीकार करे या अलग हो जाए।"

इमाम शाफ़ई के नज़दीक जुनून (पागलपन) और जुज़ाम (कोढ़) और बर्स (सफ़ेद दाग़) में औरत और मर्द दोनों का ख़यारे फ़स्ख़ हैं, पर

---

१. ख़यारे फ़स्ख़, अर्थात निकाह हो जाने के बाद यह कहने का अधिकार कि मुझे यह निकाह क़ुबूल नहीं है।

क़ुरूहे सय्याला-ए-फ़रज[1], जैसे आतशक आदि और गन्दे रोगों और खुजली में ख़यार नहीं, अलबत्ता अगर गुप्तांग ऐसे रोगों में फंसा हो जो सहवास में रुकावट बने या मर्द नामर्दी या इसी तरह के ऐब का शिकार हो, तो ऐसी शक्ल में दूसरे फ़रीक़ को ख़यारे फ़स्ख़ है।

इमाम मुहम्मद रह० के नज़दीक शौहर को औरत के किसी ऐब की वजह से ख़यारे फ़स्ख़ नहीं है, पर औरत को शौहर के जुनून और जुज़ाम और बर्स में ख़यारे फ़स्ख़ है।

इन तमाम विचारधाराओं में से दूसरा मत क़ुरआन मजीद की शिक्षा से ज़्यादा क़रीब है और क़ुरआन के अनुसार औरत और मर्द के दाम्पत्य सम्बन्ध में दो चीज़ों को काफ़ी अहमियत हासिल है—

एक चरित्र-रक्षा,
दूसरे दम्पति में आपसी प्रेम-भाव।

ये दोनों उद्देश्य ऐसे ऐबों की मौजूदगी में समाप्त हो जाते हैं, जिन से दोनों अर्थात् मियां-बीवी स्वभावतः एक-दूसरे से नफ़रत करने पर मजबूर हों या एक-दूसरे की प्राकृतिक इच्छाओं को पूरा न कर सकते हों।

फिर जैसा कि हम पहले बयान कर चुके हैं, यह बात इस्लामी दम्पति-क़ानून की बुनियादों में से है कि दाम्पत्य संबंध दम्पति के लिए हानि और अल्लाह की सीमाओं से उल्लंघन का कारण न होना चाहिए। यह क़ायदा भी उन ऐबों में ख़यारे फ़स्ख़ न रखने से टूट जाता है। वे तमाम रोग जिनका ऊपर उल्लेख हुआ है, हानि पहुंचाने वाले हैं और उनसे इस बात का भी डर है कि दम्पति में कोई एक घृणा की

---

१. वह ज़ख़्म जिस की वजह से फ़रज (औरत के गुप्तांग) से नमी बहती रहती है।

वजह से या अपनी मनोकामनाएं पूरी न होने की वजह से अल्लाह की सीमाओं को तोड़ देगा, इसलिए ज़रूरी है कि इन तमाम ऐबों में दम्पति के लिए ख़यारे फ़स्ख़ रखा जाए।

यह तो इस स्थिति में है, जबकि निकाह से पहले दम्पति को एक दूसरे के हाल की ख़बर न हो और बाद में मालूम होते ही उस पर नारज़ामंदी ज़ाहिर कर दे। रही यह स्थिति कि दम्पति को निकाह से पहले एक-दूसरे का हाल मालूम था और उन्होंने जानबूझ कर निकाह कर लिया या उनको मालूम तो न था, पर बाद में जान लेने पर उन्होंने ख़यारे फ़स्ख़ इस्तेमाल न किया या निकाह के बाद ऐब पैदा हुआ, तो इन तमाम सूरतों में मर्द के पास तो एक रास्ता ऐसा मौजूद है जिस से वह हर वक़्त काम ले सकता है, अर्थात् तलाक़ और उस के अलावा दूसरा रास्ता भी उसके पास मौजूद है अर्थात् दूसरी शादी कर लेना, पर औरत के लिए कुछ परिस्थितियों में फ़ुक़हा ने कोई रास्ता प्रस्तावित नहीं किया और कुछ परिस्थितियों में किसी ने उसकी ख़लासी की तदबीर निकाली है और किसी ने नहीं निकाली। इस सिलसिले में जो फ़त्वे हैं, उनको हम अलग-अलग बयान करके उन पर बहस करेंगे।

१०. इनीन[१] और मज्बूब[२] वग़ैरह

अगर शौहर मज्बूब हो, तो इस बात पर क़रीब-क़रीब सभी सहमत हैं कि औरत को अलगाव का दावा करने का हक़ है और स्थिति की जांच के बाद फ़ौरी तौर पर जुदाई करा दी जाएगी।

अगर शौहर नामर्द हो और औरत जुदाई की मांग करे, तो हज़रत उमर रज़ि० के फ़ैसले के आधार पर उसे एक साल तक इलाज की

---

१. नामर्द २. जिसकी जनेन्द्रिय कटी हुई हो।

मोहलत दी जाएगी। इसके बाद भी अगर वह समर्थ न हो, तो जुदाई करा दी जाएगी, लेकिन इसके साथ फ़ुक़हा ने निम्नलिखित शर्तें लगा दी हैं—

१. यह हुक्म इस स्थिति में है, जबकि औरत को पहले से उसके इनीन होने का ज्ञान न हो, लेकिन अगर उसको मालूम था और उसने राज़ी-खुशी से उससे निकाह कर लिया, तो उसे अलगाव की मांग का हक़ नहीं।

२. अगर औरत को पहले मालूम न था, पर बाद में जान लेने के बाद उसने उसके निकाह में रहने पर रज़ामंदी ज़ाहिर कर दी, तो अलगाव की मांग का हक़ उसे बाक़ी न रहा।

३. अलगाव केवल इस स्थिति में कराया जाएगा, जबकि शौहर एक बार भी सहवास न कर सका हो। वरना अगर उसने एक बार भी संभोग कर लिया, चाहे वह अधूरा ही क्यों न हो, तब भी औरत अलगाव का हक़ नहीं रखती।

इन शर्तों में से किसी के लिए भी क़ुरआन व हदीस में कोई सनद मौजूद नहीं है और हम इन तीनों शर्तों को सही नहीं समझते। अगर किसी औरत ने जानबूझ कर अपनी मूर्खता से किसी व्यक्ति को नामर्द जानते हुए उससे निकाह कर लिया, तो उसकी यह सज़ा उचित और मुनासिब नहीं है कि उसको तमाम उम्र एक नामर्द शौहर के साथ ज़िंदगी गुज़ारने पर मजबूर किया जाए। उसके बिगाड़ के पहलू इतने स्पष्ट हैं कि बयान की ज़रूरत नहीं। ऐसी नादान औरत के लिए बस इतनी सज़ा काफ़ी है कि उसको महर से महरूम करके जुदाई करा दी जाए।

अगर औरत को निकाह के बाद शौहर का नामर्द होना मालूम हो और उसने शुरू में उसके साथ रहने पर अपनी रज़ामंदी ज़ाहिर कर

दी, तो यह कोई अपराध नहीं, जिसके आधार पर उसको तमाम उम्र मुसीबत की ज़िंदगी गुज़ारने पर मजबूर किया जाए। एक तजुर्बेकार कुंवारी लड़की शुरू में इन स्वाभाविक कष्टों का अन्दाज़ा नहीं कर सकती, जो एक इनीन की बीवी को पेश आती है। हो सकता है कि वह अपने नेक स्वभाव के कारण यह विचार करे कि शौहर अगर इनीन है, तो क्या है ? मैं इसी तरह उसके साथ ज़िंदगी बसर कर लूंगी, पर बाद में उसको वे असह्य कष्ट झेलने पड़े, जिनका उसे पहले से एहसास न था और वह अपनी सेहत की ख़राबी या बड़े गुनाह में पड़ जाने के डर से परेशान होकर जुदाई की इच्छा करे। क्या ऐसी स्थिति में यह जायज़ होगा कि उसकी पहली रज़ामंदी को सनद क़रार देकर उसकी ज़ुबान पकड़ ली जाए और उससे कहा जाए कि तूने शुरू में जो ग़लती की थी, उसकी यही सज़ा है कि अब तू सड़-सड़ कर मर जाए या आबरू लुटा कर ज़िंदगी गुज़ार। जहां तक हम विचार करते हैं, यह बात क़ुरआन मजीद की शिक्षा के विरुद्ध है और इससे ऐसी हानियां पैदा हो सकती हैं, जो उस औरत की ज़ात तक ही सीमित न होंगी, बल्कि समाज में फैलेंगी और नस्लों तक पहुंचेंगी। इतने बड़े नुक़्सान को गवारा करने से ज़्यादा बेहतर यह है कि एक व्यक्ति की हानि को गवारा किया जाए, जबकि हक़ीक़त में जुदाई में उसकी भी हानि नहीं है। ज़्यादा-से-ज़्यादा अगर कोई सज़ा इस ग़लती की उस औरत को दी जा सकती है, तो वह बस यही है कि उसे कुल महर या उसके कुछ हिस्से से महरूम कर दिया जाए, अगरचे यह भी मेरे नज़दीक ज़्यादती है, क्योंकि सज़ा का हक़दार तो वह व्यक्ति है, जिसने नामर्द होने के बावजूद निकाह किया।

तीसरी शर्त भी हमारे नज़दीक बहुत सख़्त है। निकाह से शरीअत का जो उद्देश्य है, वह इस प्रकार के दाम्पत्य सम्बन्ध से कदापि पूरा नहीं होता। इस्लाम का क़ानून किसी आसमानी जीव के

लिए नहीं है, बल्कि आम इंसानों के लिए है और आम इंसानों में जो औरतें पायी जाती हैं, उनके लिए अगर यह असंभव नहीं तो हद दर्जा कठिन ज़रूर है कि बस एक या दो-चार बार शौहर को सहवास से लाभ उठाना उनके लिए काफ़ी हो और उसके बाद हमेशा के लिए उससे महरूम रह कर वे हंसी-ख़ुशी से गुज़ार दें और अपनी आबरू को हर प्रकार के ख़तरों से बचाए रखें। मान लीजिए अगर ५० फ़ीसदी औरतें भी इस पर समर्थ हों, तो उन बाक़ी पचास फ़ीसदी औरतों का हश्र क्या होगा, जिनकी सहनशीलता और सतीत्व का दर्जा इतना ऊंचा नहीं है? क्या उनके मुसीबत में फंस जाने और समाज में उनकी वजह से तरह-तरह के बिगाड़ के पैदा होने की ज़िम्मेदारी इस क़ानून पर न होगी, जिसने उनके लिए हलाल के दरवाज़े बन्द करके उन्हें हराम के रास्तों पर चलने के लिए मजबूर कर दिया! अतः हमारी राय में नामर्दी की हर शिकायत पर, चाहे वह निकाह से पहले की हो या बाद में हुई हो, औरत को अदालत की ओर रुजू करने का हक़ होना चाहिए और अगर काफ़ी इलाज के बाद, जिसके लिए एक साल की मुद्दत मुनासिब है, यह शिकायत दूर न हो, तो जुदाई करा देनी चाहिए।

फ़ुक़हा ने यह लिखा है कि अगर एक साल तक इलाज करने के बाद शौहर ने एक बार भी संभोग कर लिया, भले ही वह अधूरा हो तो औरत का जुदाई का हक़ हमेशा के लिए समाप्त हो जाएगा, यहां फिर बेजा तेज़ी पायी जाती है। अधिक उचित यह है इस मामले में चिकित्सा विशेषज्ञों की राय पर भरोसा किया जाए। अगर इलाज के बाद भी विशेषज्ञों की राय यह हो कि रोगी दाम्पत्य-कर्त्तव्य निभाने के लिए पूरी तरह योग्य नहीं हो सकता है, तो जुदाई करा देनी चाहिए।

फ़ुक़हा ने ख़स्सी (एक प्रकार का नपुंसक) के लिए वही क़ानून

रखा है, जो इनीन के लिए रखा गया है, अर्थात् उसको भी इलाज के लिए एक साल की मोहलत दी जाएगी। इसकी वजह यह बतायी गयी है कि उसके सहवास में समर्थ होने की उम्मीद की जा सकती है, लेकिन चिकित्सा-खोजों से यह साबित हो चुका है कि इस मामले में ख़स्सी और मज्बूब के बीच कोई अन्तर नहीं, मर्द चाहे जनेन्द्रिय का कटा हुआ हो या ख़स्सी किया हुआ हो, दोनों शक्लों में दाम्पत्य-कर्त्तव्यों के लिए वह समान रूप से अयोग्य होता है और कोई इलाज उसकी खोयी हुई क्षमता को वापस नहीं ला सकता, इसलिए ख़स्सी और मज्बूब के हक़ में एक ही क़ानून होना चाहिए।

११. जुनून (पागलपन)

मजनूं (पागल) के बारे में हज़रत उमर रज़ि० का यह फ़ैसला है कि उसके इलाज के लिए एक साल की मुद्दत मुक़र्रर की जाए। अगर इस मुद्दत में वह ठीक न हो, तो उसकी औरत उससे अलग कर दी जाए। फ़ुक़हा ने इसी फ़ैसले को लिया है और विभिन्न तरीक़ों से मामूली-मामूली मस्अलों में इस हुक्म को जारी किया है।

इमाम अबू हनीफ़ा रह० के नज़दीक यह हुक्म केवल उस मजनूं के लिए है, जो निकाह से पहले मजनूं था और निकाह के बाद सहवास में समर्थ न हो, इस दृष्टि से मानो वह इनीन है और इसीलिए उसको एक साल की मोहलत दी जाती है।

इमाम मुहम्मद रह० की राय में जुनून अगर हादिस हो,[१] तो उस को इलाज के लिए एक साल की मोहलत दी जाएगी और अगर मुतबिक़[२] हो, तो वह मज्बूब के हुक्म में है, मोहलत दिये बिना जुदाई करा दी जाएगी।

१, अर्थात्, जिसके दौरे कभी-कभी पड़ते हों,

२, अर्थात् जुनून की स्थिति हमेशा रहे।

इमाम मालिक के नज़दीक हादिस और मुतबिक़ दोनों में एक साल की मोहलत इलाज के लिए दी जाएगी और अगर इस मुद्दत में वह ठीक न हो, तो जुदाई करा दी जाएगी, लेकिन उसके साथ मालिकी फ़ुक़हा निम्नलिखित शर्तें लगाते हैं :–

१. अगर निकाह से पहले मजनूं था और औरत ने जानबूझ कर उससे निकाह किया, तो वह अलगाव की मांग नहीं कर सकती।

२. अगर निकाह के बाद उसे मालूम हुआ कि वह मजनूं है और उसने स्पष्ट रूप से उसके साथ रहने पर रज़ामंदी ज़ाहिर कर दी, तब भी अलगाव का हक़ बाक़ी नहीं रहा।

३. अगर जुनून निकाह के बाद पैदा हुआ, तो औरत केवल इस स्थिति में अलगाव की मांग कर सकती है कि जुनून पैदा होने के बाद उसने उसके साथ रहने पर रज़ामंदी को स्पष्ट न किया और अख़्तियार और रज़ामंदी से उसको संभोग या संभोग की प्रेरणा देने वाली बातों का अवसर न दिया हो।

ये शर्तें इस प्रकार की हैं, जिनका उल्लेख इनीन के अध्याय में हो चुका है, इनका कोई सबूत किताब व सुन्नत में नहीं है और इनपर भी हमको वही आपत्ति है। शरीअत, संस्कृति और चरित्र के उद्देश्य ऐसी स्थिति में कभी पूरे नहीं हो सकते कि किसी औरत को एक पागल व्यक्ति के साथ ज़बरदस्ती बांध रखा जाए। अगर उसने जानबूझ कर उससे निकाह किया हो, तो उसके लिए यह सज़ा काफ़ी है कि उसे महर से महरूम कर दिया जाए। अगर निकाह हो जाने के बाद उसे जुनून की जानकारी हुई और उसने शुरू ही में उस पागल के साथ ज़िंदगी गुज़ारने का इरादा ज़ाहिर कर दिया, लेकिन बाद में उसके लिए आध्यात्मिक व दैहिक कष्ट असह्य हो गये, तो वास्तव में उसने कोई ऐसा अपराध ही नहीं किया, जिस की सज़ा उसको यह दी जाए

कि तमाम उम्र वह एक पागल के साथ रंज, तक्लीफ़ और ख़तरों से भरी हुई ज़िंदगी गुज़ारने पर मजबूर की जाए। अगर निकाह के बाद जुनून पैदा हो और जुनून के शुरू की हालत में औरत ने वफ़ादारी और साथ रहने की सज्जनतापूर्ण भावनाओं के आधार पर उसको छोड़ना पसन्द न किया और यथासंभव उसकी ख़बरगीरी और पहले जैसे मियां-बीवी के ताल्लुक़ात उसके साथ रखना गवारा कर लिया, तो उस पर यह क्यों ज़रूरी हो कि जब उसका पागलपन उस बेचारी के लिए असह्य हो चुका हो, उस वक़्त भी उसको रिहाई दिलाने से इंकार कर दिया जाए? क्या यह क़ैद लगाने से क़ानून का मंशा यह है कि ज्यों ही किसी औरत के शौहर में पागलपन के निशान ज़ाहिर हों, वह तुरन्त उसकी तमाम पिछली मुहब्बतें और मित्रता भुला कर उसके साथ बेवफ़ाई अपना ले और उसको छोड़ कर चली जाए इस डर से कि अगर बाद में उस जुनून ने स्थायी असह्य शक्ल अपना ली, तो उस वक़्त यह वफ़ादारी और साथ वबाले जान साबित होगा और उसको बहुत बुरी सज़ा भुगतनी पड़ेगी?

इस क़िस्म की शर्तें लगाने से मर्द के हक़ों की अतिशयोक्तिपूर्ण धारणा अपनायी गयी है और दूसरी ओर औरतों के साथ बड़ी सख़्ती की गयी है। औरत अगर बेकार हो जाए या जुनून में फंस जाए या किसी घृणापूर्ण या हानिप्रद रोग में पड़ी हो—तो मर्द उसे तलाक़ दे सकता है या दूसरी शादी कर के अपना जीवन सुन्दर तरीक़े से बसर कर सकता है, लेकिन मर्द इन हालात में से किसी हालत में फंस जाए, तो औरत न तो उसे तलाक़ दे सकती है, न उसकी मौजूदगी में दूसरा विवाह कर सकती है। इसके लिए अलगाव के अलावा कोई रास्ता नहीं है। अब अगर इस रास्ते पर भी ऐसी पाबंदियां लगा दी जाएं, जिनकी वजह से ज़्यादा हालात में उस के लिए रिहाई की कोई सूरत बाक़ी ही न रहे, तो यह उस न्याय और संतुलन के ख़िलाफ़ होगा, जो

इस्लाम की विशेषताओं में से है। ऐसे तमाम मामलों में क़ुरआन मजीद की वे आयतें हमारे लिए रास्ते का निशान होने चाहिएं, जिनमें फ़रमाया गया है कि निकाह में भलाइयों के साथ मामला होना चाहिए। औरत को मर्द के निकाह में रखा जाए, तो इस तरह कि उसमें ज़ुरार[1] और तअ़द्दी[2] न हो और अल्लाह की सीमाओं के टूटने का डर न हो, लेकिन अगर किसी दाम्पत्य सम्बन्ध में ये अनिवार्य शर्तें पूरी न हों, तो एहसान के साथ विदा करने के क़ायदे पर अमल होना चाहिए। अब कौन कह सकता है कि एक पागल या आत्शक का मारा हुआ या कोढ़ी या सफ़ेद दाग़ वाले शौहर के साथ ज़बरदस्ती बंधे रहने से बढ़ कर किसी औरत के लिए ज़ुरार और तअद्दी की कोई दूसरी स्थिति भी हो सकती है? और कौन नहीं समझ सकता कि जो औरत ज़बरदस्ती इस हालत में रखी गयी हो, उसके लिए अल्लाह की सीमाओं का उल्लंघन करने के कितने अवसर ज़िंदगी में पैदा हो सकते हैं और इन अवसरों से बचना एक औसत दर्जे की औरत के लिए कितना कठिन है।

१२. लापता होने पर

लापता के बारे में क़ुरआन मजीद में कोई स्पष्ट आदेश नहीं है, हदीसों में कोई भरोसे लायक़ हुक्म नहीं। दारे क़ुत्नी ने अपनी सुनन में एक हदीस नक़ल की है, जिसके शब्द ये हैं—

> हुज़ूर सल्ल० ने फ़रमाया, "लापता की बीवी उसकी बीवी है, जब तक उसका हाल मालूम न हो जाए।"

लेकिन यह हदीस सिवार बिन मुस्अब और मुहम्मद बिन शुरहबील हमदानी के वास्ते से पहुंची है, जिन पर विवाद है। इब्ने

---

१. कष्ट पहुंचाना, तक्लीफ़ देना

२. ज़्यादती,

शुरहबील के बारे में इब्ने अबी हातिम ने लिखा है–

"वह मुग़ीरह से ऐसी बातें रिवायत करता है, जो मुन्कर और झूठी होती हैं।"

और सिवार बिन मुसअब के बारे में इब्नुल क़त्तान ने लिखा है कि वह छोड़कर बयान करने में इब्ने शुरहबील से ज़्यादा मशहूर है।

अतः यह हदीस कमज़ोर और ऐसी है जिससे दलील न ली जा सके। इसके अलावा लापता के बारे में हज़रत उमर रज़ि०, हज़रत अली रज़ि०, हज़रत इब्ने अब्बास रज़ि०, हज़रत अब्दुल्लाह बिन मसऊद रज़ि०, हज़रत अब्दुल्लाह बिन उमर रज़ि० जैसे बड़े सहाबियों की राय में जो अन्तर हुआ है, वह इस बात पर दलील है कि इन लोगों में से किसी को इस हदीस की जानकारी न थी और न उनके युग में किसी सहाबी को इसकी ख़बर थी, क्योंकि अगर सहाबा रज़ि० में से कोई भी इस हदीस को जानता था, तो वह इन लोगों के सामने उसे पेश कर के मतभेद को ख़त्म कर देता। मुहम्मद बिन शुरहबील इस हदीस को मुग़ीरह बिन शोबा रज़ि० से रिवायत करते हैं जो हज़रत उमर रज़ि० और हज़रत उस्मान रज़ि० के दौर के मशहूर लोगों में से हैं और गवर्नरी के उच्च पदों पर आसीन रहे हैं। कैसे संभव था कि उनको नबी सल्ल० की यह हदीस मालूम होती और वह हज़रत उमर व उस्मान रज़ि० को उसके ख़िलाफ़ फ़ैसला करने देते। इन कारणों से यह समझना चाहिए कि लापता के बारे में कोई हुक्म मंसूस (क़ुरआन व सही हदीस से साबित) नहीं है, बल्कि इसका ताल्लुक़ पूरे का पूरा विद्वानों के इज्तिहाद से है।

सहाबा और ताबईन और मुज्तहिद इमामों की रायें, इस बारे में भिन्न-भिन्न हैं। हज़रत उमर रज़ि०, हज़रत उस्मान रज़ि०, हज़रत इब्ने उमर रज़ि० और हज़रत इब्ने अब्बास रज़ि० की राय यह है कि

लापता के बीवी को चार साल तक इंतिज़ार का हुक्म दिया जाए। यही राय सईद बिन मुसय्यिब, ज़ोहरी, नख़ई, अता, मक्हूल और शाबी की है। इमाम मालिक रह० ने भी इसी मत को अपनाया हैं और इमाम अहमद रह० का रुझान भी इसकी ओर है।

दूसरी ओर हज़रत अली रज़ि० और इब्ने मस्ऊद रज़ि० हैं, जिनकी राय यह है कि लापता की बीवी को उस वक़्त तक सब्र करना चाहिए, जब तक कि वह वापस न आए या उसकी मौत का पता न लग जाए। सुफ़ियान सौरी रह०, इमाम अबू हनीफ़ा रह० और इमाम शाफ़ई रह० ने इसी मत को अपनाया है।

इंतिज़ार के लिए हनफ़ी यह क़ायदा तज्वीज़ करते हैं कि जब तक लापता व्यक्ति के हम उम्र लोग उसी बस्ती या उस देश में ज़िंदा हों, उस वक़्त तक उसकी बीवी इंतिज़ार करे, फिर अनेक बुज़ुर्गों ने अपने-अपने अंदाज़े के मुताबिक़ इंसान की ज़्यादा-से-ज़्यादा उम्र का अनुमान लगाया है कि एक इंसान अधिक-से-अधिक जिस उम्र तक पहुंच सकता है, उस उम्र तक लापता के पहुंचने का इंतिज़ार किया जाए, जैसे अगर कोई व्यक्ति तीस साल की उम्र में लापता हो, तो उस की बीवी को कुछ लोगों के कथन के अनुसार ९० साल और कुछ लोगों के कथन के अनुसार ७० साल और कुछ लोगों के कथन के अनुसार ६० साल और कुछ लोगों के कथन के अनुसार ५० या कम-से-कम ४० साल इंतिज़ार करना पड़ेगा, क्योंकि कुछ के नज़दीक इंसान की स्वाभाविक उम्र १२० साल और कुछ १०० या ९० या ७० साल देते हैं। अब अगर उस वक़्त औरत २० साल की थी, तो सबसे ज़्यादा जिन बुज़ुर्गों ने उसके साथ रियाअत फ़रमायी है, उनके फ़त्वे के मुताबिक़ वह ६० वर्ष की उम्र को पहुंचने तक इसका इंतिज़ार करे, फिर उसे निक़ाह की इजाज़त है।

इस विषय में जब हम क़ुरआन मजीद के सैद्धान्तिक आदेशों की

ओर पलटते हैं, तो हज़रत उमर रज़ि० और उनके अनुपालकों का मत हम को सही मालूम होता है और वही इस्लामी क़ानून की भावना और उसके न्याय और उसके संतुलन और उसकी स्वाभाविकता से अनुकूलता रखता है। क़ुरआन मजीद में हम देखते हैं कि चार बीवियों की इजाज़त देने के साथ यह हुक्म दिया गया हैं–

"एक बीवी की तरफ़ बिल्कुल इस तरह न झुक जाओ कि दूसरी बीवी को लटकता छोड़ दो।"

इससे मालूम हुआ कि क़ुरआन किसी औरत को लटकता छोड़ देना पसन्द नहीं करता और जब वह शौहर की मौजूदगी में उसको नापसन्द करता है, तो उसके लापता होने की शक्ल में कैसे पसन्द कर सकता है?

दूसरी जगह शौहरों को हुक्म दिया जाता है कि अगर तुम अपनी बीवियों से ईला करो, तो ज़्यादा-से-ज़्यादा चार महीने तक ऐसा कर सकते हो, इसके बाद तुमको तलाक़ देना होगा। यहां फिर इस्लामी क़ानून की भावना यह मालूम होती है कि कोई औरत अपने शौहर के सहवास से इतनी मुद्दत तक महरूम न रखी जाए कि उसके लिए नुक़सान का कारण हो या अल्लाह की सीमाओं से उल्लंघन का कारण बन जाए, फिर–

"और उनसे नुक़सान पहुंचाने के लिए चिमटे न रहो।"

फ़रमाया गया, जिसका मंशा साफ़ तौर पर यह है कि दाम्पत्य संबंध में नुक़सान पहुंचाने की बात न होनी चाहिए और स्पष्ट है कि लापता की बीवी को पूरी उम्र इंतिज़ार का हुक्म देने में इंतिहा दर्जे का नुक़सान पहुंचाना है।

इसके साथ वह आयत भी विचारणीय है कि जिस में फ़रमाया

गया है कि अगर अल्लाह की सीमाओं के टूटने का डर हो, तो खुलअ में कुछ हरज नहीं। यहां अल्लाह की हदों की हिफ़ाज़त को दाम्पत्य बंधन के क़ियाम पर प्रमुखता दी गयी है और इससे कौन इंकार कर सकता है कि जिस औरत का शौहर वर्षों से लापता हो, उस के लिए अल्लाह की हदों पर क़ायम रहना बहुत मुश्किल है। इन तमाम हुक्मों के नियम और उनकी मस्लहत और उनकी हिक्मत पर विचार करने से यह बात अच्छी तरह समझ में आ जाती है कि लापता की बीवी को एक अज्ञात मुद्दत तक इंतिज़ार का हुक्म देना और उस को लटकता छोड़ देना सही नहीं है।

१३. लापता के बारे में मालिकी मत के हुक्म

हनफ़ी उलेमा ने इन्हीं कारणों से लापता के बारे में मालिकी मत के हुक्म के मुताबिक़ फ़त्वा देना पसन्द किया है। इसलिए अब हमको देखना चाहिए कि इस बारे में मालिकियों के सविस्तार हुक्म क्या हैं?

मालिकी मत की दृष्टि से शौहर के लापता होने की तीन शक्लें हैं और हर एक के हुक्म अलग-अलग हैं—

१. लापता ने अपने पीछे इतना माल न छोड़ा हो कि उसकी बीवी गुज़र-बसर कर सके। इस स्थिति में हाकिम उसको इंतिज़ार का हुक्म नहीं देगा, बल्कि जांच के बाद बिना इंतिज़ार किये, अपने अधिकार से तलाक़ दे देगा या उसे इजाज़त देगा कि अपने ऊपर आप तलाक़ ओढ़ ले।[1] शाफ़ई और हंबली मत भी इस मामले में मालिकी

---

१. तलाक़शुदा बनाने के लिए हाकिम को अपने अधिकार से तलाक़ देने से ज़्यादा बेहतर यह है कि वह औरत को ख़ुद अपने ऊपर तलाक़ ओढ़ लेने की इजाज़त दे, क्योंकि अल्लाह के रसूल सल्ल० ने बुरैदा से फ़रमाया था कि तुझे अपने नफ़्स का अधिकार है, चाहे अपने शौहर के साथ रहे या उससे जुदा हो जाए।

मत का समर्थन करते हैं, क्योंकि उनके नज़दीक नफ़का न देना ही खुद अलगाव के लिए काफ़ी वजह है।

२. लापता ने माल तो छोड़ा है, पर औरत जवान है और उसको किसी लम्बी मुद्दत के लिए लटकाये रखने में उसके किसी गुनाह के शिकार हो जाने का डर है, ऐसी स्थिति में हाकिम उसको एक साल या छः महीने या जितनी मुद्दत मुनासिब समझे, इंतिज़ार करने का हुक्म देगा। इस सिलसिले में हंबली मत भी मालिकी मत का समर्थक है, बल्कि कुछ विशेष परिस्थितियों में हंबलियों और मालकियों ने इंतिज़ार किये बिना भी अलगाव को जायज़ कर रखा है। साथ ही गुनाह के डर के लिए यह ज़रूरी नहीं है कि दावा करने वाली ख़ुद मुंह फोड़ कर कह दे कि मुझे उस शौहर के विवाह-बंधन से आज़ाद करो, वरना मैं ज़िना करूंगी, बल्कि यह देखना खुद क़ाज़ी का काम है कि जो औरत शौहर के लापता होने की ख़बर लायी है, उसकी उम्र क्या है, किस माहौल में रहती है और दावा करने से पहले कितनी मुद्दत शौहर के इंतिज़ार में गुज़ार चुकी है। इन चीज़ों पर दोबारा दृष्टि डालने से वह खुद राय क़ायम कर सकता है कि उसके चरित्र की रक्षा के लिए उसे इंतिज़ार की मुद्दत में कितनी कमी करनी चाहिए।

३. लापता नफ़का भी छोड़ गया है और औरत के गुनाह में पड़ जाने का भय भी नहीं है। इस स्थिति में चार बातें पैदा होती हैं—

(क) अगर लापता इस्लामी देशों में या ऐसे देशों में खो गया है, जिनसे सभ्य जगत के ताल्लुक़ात हैं और जहां उसका पता चलना मुश्किल नहीं है, तो उसकी औरत को चार साल तक इंतिज़ार करने का हुक्म दिया जाएगा।

(ख) अगर वह लड़ाई के मैदान में खो गया है, तो उसकी खोज की संभव कोशिश करने के बाद एक साल इंतिज़ार किया जाएगा।

(ग) अगर वह किसी स्थानीय दंगे के सिलसिले में खो गया है, तो दंगा ख़त्म होने के बाद उसकी खोज के लिए संभव कोशिश की जाएगी, फिर इंतिज़ार किये बिना उसकी बीवी को मरने की इद्दत गुज़ारने की इजाज़त दे दी जाएगी।

(घ) अगर वह ऐसे असभ्य देशों में खो गया है, जिनसे सभ्य जगत के ताल्लुक़ात नहीं हैं और उसके खोज निकाले जाने की संभावना भी नहीं है, तो उसकी बीवी को तामीर[1] की मुद्दत गुज़ारने तक इंतिज़ार करना होगा। तामीर की मुद्दत निश्चित करने में मतभेद है। कुछ सत्तर साल कहते हैं, कुछ ८० साल और कुछ ७५ साल। लेकिन जैसा कि हम ऊपर बयान कर चुके हैं, यह उसी शक्ल में होगा, जबकि वह काफ़ी नफ़क़ा छोड़ गया हो और औरत के गुनाह में पड़ जाने का डर भी न हो।

हनफ़ी उलेमा आम तौर से अपने फ़त्वों में मालिकी मत की इन शर्तों को नज़रंदाज़ कर जाते हैं और शौहर के लापता होने की तमाम सूरतों में चार साल तक इंतिज़ार का फ़त्वा देते हैं, लेकिन यह सही नहीं है। विशेष रूप से वर्तमान समय में, जबकि नैतिक हालात को बिगाड़ने की बहुत-सी वजहें पैदा हो गयी हैं। हर लापता शौहर वाली औरत के लिए चार साल इंतिज़ार की मुद्दत पर आग्रह करना शरीअत की मस्लहतों के बिल्कुल ख़िलाफ़ है। आज इस्लामी समाज में वह ज़बरदस्त नैतिक अनुशासन बाक़ी नहीं रहा है; जो इस्लाम के आरंभिक युग में था। ग़ैर इस्लामी तरीक़ों के रिवाज ने इन तमाम बंधनों से इंसान को आज़ाद कर दिया है जो मनोकामनाओं को क़ाबू में रखने के लिए इस्लाम ने क़ायम किये थे। सिनेमा है, नंगी तस्वीरें हैं,

---

१. अर्थात् एक औसत दर्जे के इंसान के लिए जितनी उम्र पाने की आशा की जाती हो।

इश्क़िया नावेल और क़िस्से हैं, रेडियो के वासनापूर्ण गीत हैं, जिनसे कोई व्यक्ति शहरों और क़स्बों में रहते हुए नहीं बच सकता और इन सब के अलावा यह है कि देश के क़ानून ने ज़िना को जायज़ कर रखा है, फिर पर्दे की शरई हदें बाक़ी न रहने की वजह से ग़ैर-महरम मर्दों और औरतों के आज़ादाना मेल-जोल ने भावनाओं को उत्प्रेरित करने के इतने सामान पैदा कर दिये हैं कि किसी व्यक्ति के लिए मनोनिग्रह और आत्मसंयम के साथ ज़िंदगी बिताना बहुत मुश्किल हो गया है। इन हालात में यह कहां तक उचित होगा कि एक जवान औरत जब अपने लापता शौहर की वापसी का दो-तीन साल इंतिज़ार करने के बाद तंग आकर अदालत में रुजू करे तो अदालत उसको और चार साल इंतिज़ार करने का हुक्म दे। यह ऐसी सख़्ती है जिसमें केवल औरतों ही के लिए नुक़्सान नहीं है, बल्कि इसके हानिप्रद परिणामों के सारी क़ौम में फैल जाने का डर है, इसलिए हमारी तज्वीज़ यह है कि क़ानून में लापता व्यक्ति के बारे में मालिकी मत की तमाम शर्तों को शामिल किया जाए और हुक्मों के अंशों में लापता शौहर वाली औरत की उम्र, उसके माहौल और उसकी मुद्दत पर समुचित ध्यान दिया जाए, जिसको इंतिज़ार की हालत में गुज़ारने के बाद उसने अदालत की तरफ़ रुजू किया हो।

१४. लापता ... वापसी की शक्ल में हुक्म

इस सिलसिले में यह सवाल भी बहस चाहता है कि अगर लापता शौहर अदालत की दी हुई इंतिज़ार की मुद्दत ख़त्म हो जाने के बाद वापस आ जाए, तो इसका क्या हुक्म है?

हज़रत उमर रज़ि० का फ़ैसला यह है कि अगर औरत के दूसरे निकाह से पहले उसका शौहर वापस आ गया, तो वह उसी को मिलेगी, लेकिन अगर निकाह कर चुकी है, तो चाहे दूसरे शौहर के

साथ एकान्तवास हुआ हो या न हुआ हो, दोनों सूरतों में पहले शौहर का उसपर कोई हक़ न रहा। मुअत्ता में इमाम मालिक ने हज़रत उमर रज़ि० के इस कथन से दलील ली है और मालिकी मत का इसी पर फ़त्वा है।

हज़रत अली रज़ि० का फ़ैसला यह है कि औरत हर हाल में पहले शौहर को मिलेगी, भले ही दूसरे शौहर से एकान्तवास हुआ हो और बच्चे पैदा हो गये हों। इसके अलावा एकान्तवास हो चुकने की शक्ल में दूसरे शौहर से उस औरत को मह्र भी दिलाया जाएगा। हनफ़ियों ने इसी मत को अपनाया है और वे कहते हैं कि हज़रत उमर रज़ि० ने आख़िर हज़रत अली के इस फ़ैसले की ओर रुजू कर लिया था। लेकिन इमाम मालिक के नज़दीक हज़रत उमर रज़ि० का रुजू साबित नहीं है।

हज़रत उस्मान रज़ि० का फ़ैसला यह है कि अगर औरत दूसरा निकाह कर चुकी हो, फिर पहला शौहर वापस आ जाये तो उससे पूछा जायेगा कि उसे बीवी चाहिए या मह्र? अगर उसने मह्र वापस लेने या माफ़ करा लेने को पसन्द किया तो औरत दूसरे शौहर के पास छोड़ दी जायेगी और वह बीवी को वापस लेने का आग्रह करे तो औरत को अपने शौहर से अलग होकर तलाक़ की इद्दत गुज़ारनी होगी। फिर वह पहले शौहर के हवाले कर दी जायेगी और दूसरे शौहर से उसे मह्र दिलाया जायेगा। कुछ रिवायतों में हज़रत उमर रज़ि० से भी इसी तरह का कथन नक़ल किया गया है। लेकिन इमाम मालिक के नज़दीक यह साबित नहीं है।

हमारे नज़दीक इन तीनों फ़ैसलों में से हज़रत उमर रज़ि० का वह फ़ैसला सब से बेहतर है, जिससे इमाम मालिक रह० ने सनद ली है। ज़ाहिर है कि अगर औरत का दूसरा निकाह हो जाने के बाद भी पहले

शौहर का हक़ उसपर क़ायम रहे, तो कौन ऐसी औरत से निकाह करना पसंद करेगा, जिसके बारे में उसको हमेशा यह खटका लगा हुआ हो कि न जाने कब उसका पहला शौहर वापस आ जाए और न सिर्फ़ औरत उससे छिन जाए, बल्कि उसको मह्र भी देना पड़े और बच्चे हो जाने की शक्ल में उसकी औलाद अलग बर्बाद हो। इस क़िस्म की शर्त लगाने में औरत के लिए बहुत ज़्यादा नुक़्सान है। इसका मतलब तो यह है कि इंतिज़ार की एक लम्बी और थका देने वाली मुद्दत गुज़ार कर भी उसकी मुसीबत ख़त्म न हो, अदालत से आज़ादी का परवाना हासिल करने के बाद भी उसके पांव में एक ज़ंजीर पड़ी रहे और उसको सारी उम्र लटकी हुई हालत ही में रह कर गुज़ारनी पड़े।

१५. लिआन

शौहर चाहे अपनी बीवी पर खुले शब्दों में ज़िना का आरोप लगाये या औलाद के बारे में कहे कि वह उसकी नहीं है, दोनों सूरतों में लिआन वाजिब आता है। नबी सल्ल० के सामने एक ऐसा मुक़दमा पेश हुआ, तो आपने दोनों फ़रीक़ों को ख़िताब कर के तीन बार फ़रमाया—

> "अल्लाह खूब जानता है कि तुम दोनों में से एक झूठा है, फिर क्या तुम में से कोई तौबा करेगा?"

जब दोनों ने तौबा से मुंह फेर लिया, तो आपने क़ुरआन मजीद की हिदायत के मुताबिक़ पहले शौहर से चार क़समें इस बात पर लीं कि जो आरोप उसने लगाया है, वह सही और पांचवीं बार उससे यह कहलवाया कि अगर वह झूठा हो, तो उसपर ख़ुदा की लानत। फिर इसी तरह चार क़समें औरत से लीं कि जो आरोप उसपर लगाया गया है, वह ग़लत है और पांचवीं बार उससे कहलवाया कि अगर यह

आरोप सही हो, तो उसपर खुदा की लानत। इसके बाद हुजूर सल्ल० ने फ़रमाया—

"यह है अलगाव का तरीक़ा हर लिआ़न करने वाले दम्पति के बीच क़ियामत तक के लिए। इस अलगाव के बाद वे कभी जमा नहीं हो सकते।"

शौहर ने अर्ज़ किया कि जो माल मैंने उस को महर में दिया था, वह वापस दिलवाया जाए। आपने जवाब दिया-

"माल तुझे नहीं मिल सकता। अगर तूने सच्चा आरोप लगाया है, तो यह माल उस स्वाद का बदला है, जो तू उससे पा चुका है और अगर तूने उसपर झूठा आरोप लगाया है तो माल को वापस लेने का हक़ तुझसे और भी दूर हो गया।"

हुजूर सल्ल० के इस फ़ैसले से निम्न आदेश निकलते हैं :—

१. लिआ़न क़ाज़ी के सामने होना चाहिए। औरत और मर्द आपस में या अपने रिश्तेदारों के सामने लिआ़न नहीं कर सकते, न ऐसे लिआ़न से अलगाव हो सकता है।

२. लिआ़न से पहले क़ाज़ी औरत और मर्द दोनों को मौक़ा देगा कि उनमें कोई एक अपने अपराध को मान ले। जब दोनों अपनी-अपनी बात पर आग्रह करें तब लिआ़न कराया जाए।

३. दोनों फ़रीक़ों की ओर से लिआ़न का काम पूरा होने के बाद क़ाज़ी एलान करेगा कि उनके बीच अलगाव कर दिया गया है। आमतौर से यह विचार पाया जाता है कि लिआ़न से अपने आप जुदाई हो जाती है। लेकिन इमाम अबू हनीफ़ा रह० की राय है कि अलगाव के लिए हाकिम का हुक्म ज़रूरी है। तमाम भरोसे की हदीसें जो इस बारे में हमको मिली हैं, इमाम अबू हनीफ़ा रह० का समर्थन करती हैं,

क्योंकि हर ऐसे मुक़दमें में नबी सल्ल० ने लिआन का काम पूरा होने के बाद अलगाव का एलान फ़रमाया है। इसका मतलब यह है कि आपने मात्र लिआन करने को जुदाई के लिए काफ़ी नहीं समझा।

४. लिआन से जो अलगाव किया जाता है, वह हमेशा का है। इस के बाद दोनों फ़रीक़ अगर दोबारा आपस में निकाह करना चाहें, तो किसी तरह नहीं कर सकते। इस मामले में हलाले का वह क़ानून भी जारी नहीं होता, जो 'यहां तक कि वह किसी दूसरे मर्द से शादी करे' में बयान किया गया है।

५. लिआन में महर ख़त्म नहीं होता, चाहे शौहर का आरोप हक़ीक़त में सही हो या ग़लत, बहरहाल महर उसको देना पड़ेगा या अगर दे चुका है, तो उसको वापस मांगने का हक़ नहीं है।

अगर औरत पर आरोप लगाने के बाद शौहर लिआन करने से इंकार करे तो आम तौर से यही विचार पाया जाता है कि उस पर हद्द (सज़ा) जारी की जाएगी और इमाम अबू हनीफ़ा रह० की राय में वह हद्द का नहीं, बल्कि क़ैद का हक़दार होगा। इसी तरह अगर शौहर के लिआन कर चुकने के बाद औरत लिआन से इंकार करे, तो शाफ़ई रह०, मालिक रह० और अहमद रह० की राय है कि उसको रज्म[1] किया जाएगा और इमाम अबू हनीफ़ा रह० की राय है कि उसको क़ैद किया जाएगा। इस बारे में इमाम आज़म रह० का मत ज़्यादा सही और हिक्मत से भरा हुआ है। लेकिन भारत के मौजूदा हालात में इसकी गुंजाइश नहीं है कि लिआन से इंकार करने को सज़ा योग्य अपराध करार दिया जा सके। इसलिए फ़ौरी तौर पर शरई नियम में उसके लिए मुनासिब शक्ल यह होगी कि मर्द लिआन से इंकार करे, तो औरत को उसपर इज़ाला-हैसियते उरफ़ी का दावा करने का हक़

---

१. पत्थर से मारना यहां तक कि मौत हो जाए। —अनुवादक

दिया जाए और अगर औरत इन्कार करे, तो उसे मह्र से महरूम कर दिया जाए। यह केवल उस वक़्त तक होना चाहिए, जब तक हम पर एक ग़ैर-मुस्लिम हुकूमत मुसल्लत है और हम खुद सज़ा के अपने क़ानूनों को जारी करने पर समर्थ नहीं है।

१६. एक ही वक़्त में तीन तलाक़ें देकर औरत को जुदा कर देना

एक ही वक़्त में तीन तलाक़ें देकर औरत को जुदा कर देना खुली नस्स की वजह से महापाप है। मुस्लिम विद्वानों में इस विषय में जो कुछ मतभेद है, वह केवल इस मामले में है कि ऐसी तीन तलाक़ें एक रजअी तलाक़ के हुक्म में हैं या तीन तलाक़े मुग़ल्लज़ा के हुक्म में, लेकिन इसके बिदअत और गुनाह होने में किसी को मतभेद नहीं। सब मानते हैं कि यह काम उस तरीक़े के ख़िलाफ़ है जो अल्लाह और उस के रसूल सल्ल० ने तलाक़ के लिए मुक़र्रर किया है और इससे शरीअत की अहम मस्लहतें समाप्त हो जाती हैं। हदीस में आया है कि एक व्यक्ति ने अपनी बीवी को एक ही वक़्त में तीन तलाक़े दीं, तो हुज़ूर सल्ल० गुस्से में आकर खड़े हो गये और फ़रमाया—

> "क्या गौरव के स्वामी प्रतापवान् अल्लाह की किताब से खेल किया जाता है, हालांकि अभी मैं तुम्हारे दर्मियान मौजूद हूँ।"

कुछ दूसरी हदीसों में स्पष्ट किया गया है कि हुज़ूर सल्ल० ने इस काम को गुनाह फ़रमाया और हज़रत उमर रज़ि० के बारे में तो रिवायतों में यहां तक आया है कि जो व्यक्ति उनके पास एक मज्लिस में तीन तलाक़ देने वाला आता, तो उसको दुर्रे लगाते थे। इससे साबित होता है कि इस काम पर सज़ा भी दी जा सकती है।

हमारे ज़माने में यह तीरक़ा आम हो गया है कि लोग फ़ौरी जज़्बे के तहत अपनी बीवियों को झट तीन तलाक़ें दे डालते हैं, फिर शर्मिन्दा होते हैं और शरई हीले खोजते फिरते हैं, कोई झूठी क़स्में खा कर

तलाक़ से इंकार करता है, कोई हलाला कराने की कोशिश करता है और कोई तलाक़ को छिपा कर अपनी बीवी के साथ पहले की तरह के ताल्लुक़ात बाक़ी रखता है। इस तरह एक गुनाह की सज़ा से बचने के लिए बहुत से दूसरे गुनाहों को कर बैठता है। इन ख़राबियों को दूर करने के लिए ज़रूरी है कि एक ही वक़्त में तीन तलाक़ें देकर औरत को अलग करने पर ऐसी पाबंदियां लगा दी जाएं जिनकी वजह से लोग इस काम को न कर सकें।

मिसाल के तौर पर इसकी एक शक्ल यह है कि तलाक़ शुदा औरत को, जिसे एक ही वक़्त में तीन तलाक़ें दी गयी हों, अदालत में हरजाने का दावा करने का हक़ दिया जाए और हरजाने की मात्रा कम-से-कम महर की आधी मात्रा तक मुक़र्रर की जाए। इसके अलावा और सूरतें भी रोकथाम की निकल सकती हैं, जिनको हमारे उलेमा और क़ानून के विशेषज्ञ सोच-विचार के बाद प्रस्तावित कर सकते हैं। इसके अलावा इस विषय को ज़्यादा-से-ज़्यादा लोगों में फैलाने की ज़रूरत है कि यह काम नाजायज़ है, ताकि जो लोग अज्ञानता के कारण इसमें फंस जाते हैं, वे सचेत हो जाएं।

आख़िरी बात

इस पुस्तक में 'इस्लामी दाम्पत्य क़ानून के उद्देश्यों और नियमों' को विस्तार के साथ बयान कर दिया गया है और किताब व सुन्नत की शिक्षाओं को दृष्टि में रख कर इन समस्याओं को हल करने की कोशिश की गयी है, जो आजकल भारतीय मुसलमानों के लिए कठिनाइयां और पेचीदगियां पैदा कर रहे हैं। हमको यह दावा नहीं कि जो कुछ हमने इस्लाम के क़ानून को समझा है, वह पूर्ण रूप से सही है, न हमको इस पर आग्रह है कि कठिनाइयों को दूर करने के लिए जो प्रस्ताव हमने रखे हैं, उनको उसी तरह क़ुबूल कर लिया जाए। इन्सानी राय में बहरहाल सही और गलत दोनों की संभावना है और किसी इंसानी राय में यह दावा नहीं किया जा सकता कि वह ग़लती से पाक और ख़ुदा की भेजी वह्य (प्रकाशना) की तरह अनुपालन करने योग्य है। हमारा उद्देश्य इस लंबी वार्ता से सिर्फ़ इतना था कि क़ुरआन मजीद और अल्लाह के रसूल (सल्ल०) की सुन्नत से इस्लामी दाम्पत्य क़ानून की जो बुनियादी बातें हमने समझी हैं, उनको बयान कर दें और फिर इन बुनियादी बातों से बड़े सहाबा रज़ि० और मुज्तहिद इमामों ने जो नये-नये मस्अले निकाले हैं, उन पर नज़र डालकर ऐसी बातें निकाल लें, जो हमारे नज़दीक इस ज़माने की ज़रूरतों की दृष्टि से लाभप्रद और उचित हैं। अब यह ज्ञानवानों और चिन्तकों का काम है कि व्यापक दृष्टि और किताब व सुन्नत में सूझ-बूझ से काम लेकर हमारे इन प्रस्तावों पर विचार करें। अगर इसमें कुछ ग़लती पाएं, तो

उसे सुधार दें और अगर कोई चीज़ अच्छी नज़र आए, तो उसको मात्र इस कारण रद्द न कर दें कि लिखने वाला दुर्भाग्यवश चौथी सदी के बजाए चौहदवीं सदी में पैदा हुआ है।

आख़िर में हम क़ानूनों के इन मसविदों के बारे में भी संक्षेप में अपनी राय ज़ाहिर कर देना चाहते हैं, जो इस सिलसिले में हैदराबाद और भारत के कुछ लोगों ने तर्तीब दिये हैं।[1] हमारे नज़दीक ये सब मसविदे अधूरे और ज़माने की ज़रूरतों के लिहाज़ से नाकाफ़ी हैं। इस प्रकार के संक्षिप्त मसविदों से इन ख़राबियों को दूर नहीं किया जा सकता। जो एंग्लो मुहम्मडन ला की त्रुटियों और ग़ैर-मुस्लिम अदालतों की सदियों की नज़ीरों और वर्तमान अदालती व्यवस्था की कार्य-पद्धति से पैदा हो गयी हैं। यद्यपि ख़ास मामलों में यह तय कर दिया गया कि हनफ़ी फ़िक्ह के बजाए मालिकी फ़िक्ह के मुताबिक़ फ़ैसला किया जाए या कुछ समस्याओं में छोटी-छोटी बातों की संक्षिप्त व्याख्या भी कर दी गयी,तो इससे अदालत के वे ज़िम्मेदार कोई सही फ़ैसला करने के योग्य न हो सकेंगे, जो शरीअत के क़ानूनों और फ़िक़्ही मतों की छोटी-छोटी बातों पर कोई व्यापक दृष्टि नहीं रखते और जिनके दिमाग़ों पर वही एंग्लों मुहम्मडन ला की स्प्रिट छायी हुई है। इस बिगड़ी हुई हालत को ठीक करने के लिए ज़रूरी है कि मुख्य रूप से पारिवारिक मामलों के लिए एक विस्तृत विधान बनाया जाए, जैसाकि हम इस पुस्तक के पिछले पृष्ठों में बयान कर चुके हैं। यह काम आसान नहीं है, वक़्त और मेहनत चाहता है और

---

१. यहां इन मसविदों के मात्र विषय से बहस है। इससे बहस नहीं कि विधायिका को अपने आप कोई 'इस्लामी क़ानून' पास करने का हक़ है भी या नहीं। इस्लामी दृष्टि से जो क़ानून यह पास करें, चाहे वह शब्दशः शरीअत के अनुसार ही क्यों न हों, बहरहाल वह शरई क़ानून नहीं हो सकता।

एक व्यक्ति के बस का भी नहीं है। उसके लिए ज्ञानवानों और चिन्तकों की एक चुनी टीम को एक काफ़ी मुद्दत तक सर जोड़ कर बैठना चाहिए और यह समझ कर काम करना चाहिए कि वह मात्र पिछलों की किताबों से छोटी-छोटी बातों को शब्दशः नक़ल करके अपनी ज़िम्मेदारियों से अलग नहीं हो सकते, बल्कि मुस्लिम समुदाय के चिन्तक और विचारक होने की हैसियत से उनका कर्तव्य है कि शरीअत के क़ानूनों की ऐसी ताबीर करें,जिससे शरीअत के असली उद्देश्य पूरे हों और क़ौम के धर्म, चरित्र और मामलों की हिफ़ाजत का ठीक-ठीक हक़ अदा हो जाए।

——o——

परिशिष्ट
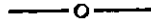
एक बड़ा अहम इस्तिफ़्ता[1]

हमारे पास दिल्ली से एक साहब ने एक छपा हुआ इस्तिफ़्ता भेजा है, जिसका विषय अपने आप में बहुत अहम है और इस दृष्टि से उसकी अहमियत और ज़्यादा बढ़ गयी है कि हमारे 'बड़े' इस मस्अले को ग़ैर-शरई तौर पर हल करने की ओर मायल नज़र आते हैं। नीचे इस्तिफ़्ता और उसका जवाब दिया जाता है—

"माहिरीने उलूमे इस्लामिया व मुफ़्तियाने शरअ़ मतीन (इस्लामी शास्त्रों के विशेषज्ञ और स्पष्ट शरीअत के मुफ़्तियों) से निम्न सवालों का तर्क सहित उत्तर किताब व सुन्नत और फ़िक़्ह की रोशनी में चाहिए—

१. अगर कोई ग़ैर-मुस्लिम हाकिम या ग़ैर-मुस्लिम सालिस व पंच मुसलमान मर्द व औरत के निकाह को इस्लामी हुक्मों के मुताबिक़ फ़स्ख़ कर दे या ग़ैर-मुस्लिम हाकिम या ग़ैर-मुस्लिम सालिस व पंच औरत पर मर्द का ज़ुल्म साबित हो जाने की शक्ल में मर्द की तरफ़ से औरत को तलाक़ दे दे, जैसा कि कुछ शक्लों में मुसलमान क़ाज़ी को यह हक़ हासिल है, तो क्या निकाह ख़त्म हो जाएगा और औरत पर तलाक़ पड़ जाएगी और औरत को शरई तौर पर यह हक़ हासिल हो जाएगा कि वह ग़ैर-मुस्लिम के समाप्त किये हुए निकाह और वाक़े तलाक़ को शरई तौर पर ठीक समझ कर इद्दत के बाद या जैसी शक्ल

---

1. फ़त्वा मांगना,

हो, दूसरे मुसलमान मर्द से निकाह कर सकती है?

२. अगर बीच में उल्लिखित सवाल का जवाब न में हो अर्थात् शरई तौर पर ग़ैर-मुस्लिम के निकाह ख़त्म कराने और तलाक़ डालने के हुक्म का कोई एतबार नहीं है और ग़ैर-मुस्लिम के निकाह ख़त्म करने या तलाक़ डालने के बाद भी वह औरत पहले शौहर की बीवी बाक़ी रहती है, तो इस शक्ल में जो औरत दूसरे मर्द से निकाह करेगी और उस दूसरे मर्द को यह ज्ञान भी हो कि उस औरत ने ग़ैर-मुस्लिम हाकिम या ग़ैर-मुस्लिम सालिस व पंच के ज़रिए से तलाक़ हासिल की है, तो वह निकाह बातिल व फ़ासिद (ख़राब) होगा या नहीं? और दूसरे मर्द से निकाह के बावजूद उस औरत का दूसरे मर्द से मियां-बीवी का ताल्लुक़ हराम होगा या नहीं? और दोनों शरीअत से ज़िना के अपराधी समझे जायेंगे या नहीं?

३. और दूसरे मर्द से निकाह बातिल होने की सूरत में जब उस दूसरे मर्द से कोई औलाद होगी, तो वह हरामी औलाद होगी या नहीं? और यह औलाद उस दूसरे मर्द के तरके से महरूम होगी या नहीं?
कृपा करके इन सवालों के जवाब नम्बरवार तर्क सहित लिखिये।"

इस सवाल में बुनियादी ग़लती यह है कि सिर्फ़ ग़ैर-मुस्लिम हाकिम या ग़ैर-मुस्लिम सालिस व पंच के बारे में सवाल किया गया है, हालांकि सवाल यह करना चाहिए था कि जो अदालती व्यवस्था ख़ुदा से बेनियाज़ होकर इंसान ने ख़ुद क़ायम कर ली हो और जिसके फ़ैसले इंसानी बनावट के क़ानूनों पर आधारित हों, उसको ख़ुदा का क़ानून जायज़ तस्लीम करता है या नहीं? इसके साथ आंशिक ग़लती यह भी है कि सवाल सिर्फ़ निकाह ख़त्म करने और अलगाव करने के मामलों के बारे में किया गया है, हालांकि सैद्धान्तिक हैसियत से इन मामलों का स्वरूप दूसरे मामलों से अलग नहीं है।

सिर्फ़ निकाह व तलाक़ ही के मामलों में नहीं, बल्कि तमाम मामलों में गैर-इस्लामी अदालत का फ़ैसला इस्लामी शरीअत के अनुसार अमान्य है। इस्लाम न उस सरकार को मान्यता देता है जो असल बदशाहों के बादशाह अर्थात् अल्लाह से बेताल्लुक होकर स्वतंत्र और स्वाधीन ढंग से क़ायम हुई हो, न उस क़ानून को तस्लीम करता है, जिसे किसी इन्सान या इन्सानों के किसी गिरोह ने अपने आप गढ़ लिया हो। न उस अदालत के सुनने के हक़ और झगड़ों के फ़ैसलों को स्वीकार करता है,जो असल मालिक और शासक की मिल्कियत में उसकी इजाज़त के बिना उसके बाग़ियों ने क़ायम कर ली हो। इस्लामी दृष्टिकोण से ऐसी अदालतों की हैसियत वही है, जो अंग्रेज़ी क़ानून के अनुसार उन अदालतों की क़रार पाती है जो ब्रिटिश साम्राज्य की सीमाओं में 'ताज' की इजाज़त के बिना क़ायम की जाएं। इन अदालतों के जज, इनके कारिंदे और वकील और इनसे फ़ैसला कराने वाले जिस तरह अंग्रेजी क़ानून की निगाह में बाग़ी व अपराधी और सज़ा पाने योग्य हैं, उसी तरह इस्लामी क़ानून की निगाह में वह पूरी अदालती व्यवस्था अपराधपूर्ण और विद्रोहपूर्ण है, जो आसमान व ज़मीन के बादशाह के साम्राज्य में उसके 'सुलतान' (चार्टर) के बिना क़ायम किया गया हो और जिसमें उसके मंज़ूर किये क़ानूनों के बजाय किसी दूसरे के मंज़ूर किये क़ानूनों पर फ़ैसला किया जाता हो। ऐसी अदालती-व्यवस्था साक्षात अपराध है, इसके जज अपराधी हैं, इसके कार्यकर्त्ता अपराधी हैं, इसके वकील अपराधी हैं, इसके सामने अपने मामले ले जाने वाले दोनों फ़रीक़ अपराधी हैं और इनके तमाम आदेश निरस्त हैं। अगर इनका फ़ैसला किसी विशेष मामले में इस्लामी शरीअत के अनुसार हो, तब भी वह वास्तव में ग़लत है, क्योंकि बग़ावत उसकी जड़ में मौजूद है। मान लीजिए अगर वे चोर का हाथ काटें, ज़ानी पर कोड़े या रजम की दफ़ा लागू करें, शराबी पर

हद्द जारी करें, तब भी शरीअत की निगाह में चोर और ज़ानी और शराबी अपने अपराध से इस सज़ा के कारण पाक न होंगे और स्वयं ये अदालतें बिना किसी हक़ के एक व्यक्ति का हाथ काटने या उस पर कोड़े या पत्थर बरसाने की अपराधी होंगी, क्योंकि उन्होंने ख़ुदा की मख़्लूक पर उन अधिकारों का उपयोग किया, जो ख़ुदा के क़ानून के अनुसार उनको हासिल न थे।[1]

इन अदालतों की यह शरई हैसियत इस शक्ल में अपनी पूर्व स्थिति में क़ायम रहती है, जबकि ग़ैर-मुस्लिम के बजाय तथाकथित मुसलमान उनकी कुर्सी पर बैठा हो, ख़ुदा की बाग़ी हुकूमत से फ़ैसला लागू करने के अधिकार लेकर जो व्यक्ति मुक़दमों की सुनवाई करता है और जो इंसान के बनाये हुए क़ानून के अनुसार हुक्म देता है, वह कम-से-कम जज की हैसियत से तो मुसलमान नहीं है, बल्कि ख़ुद बाग़ी की हैसियत रखता है, फिर भला उसके आदेश निरस्त होने से किस तरह बचे रह सकते हैं?

यही क़ानूनी पोज़ीशन इस स्थिति में भी क़ायम रहती है, जबकि

---

१. इस सिलसिले में उन मुक़दमों की कार्रवाई आंख खोल देने के लिए काफ़ी होगी, जो १९४५ ई० के आख़िर और १९४६ ई० के आरंभ में भारत सरकार ने उन फ़ौजी अफ़सरों पर चलाई, जिन्होंने बर्मा व मलाया पर जापानी क़ब्ज़े के दौरान में 'आज़ाद हिंद स्टेट' और आज़ाद हिंद फ़ौज' बना ली थी, मुख्य रूप से शाहनवाज़, सहगल, और ढिल्लो के मुक़दमें में भारत के एडवोकेट जनरल ने इस्तिग़ासे की जो तक़रीर की थी, वह ध्यान देकर पढ़ने के लायक़ है, क्योंकि उसमें तथाकथित 'विद्रोहियों' के मुक़ाबले में भारत सरकार की जो क़ानूनी पोज़ीशन बयान की गयी थी, वास्तव में वही तमाम असली व हक़ीक़ी बाग़ियों के मुक़ाबले में अल्लाह के साम्राज्य की क़ानूनी पोज़ीशन है।

शासन लोकतांत्रिक हो और उनमें मुसलमान शरीक हों, भले ह
मुसलमान किसी लोकतांत्रिक सरकार में अल्पसंख्यक हों य
बहुसंख्यक या वह सारी आबादी मुसलमान हो, जिसने लोकतांत्रि
अनीश्वरवादी सिद्धान्त पर शासन-व्यवस्था स्थापित की ह
बहरहाल जिस शासन की बुनियाद इस सिद्धान्त पर हो कि देशवार
खुद बादशाहों के बादशाह (सम्प्रभु) हैं और उनको खुदाई क़ानून
उदासीन होकर अपने लिए क़ानून बनाने का अधिकार प्राप्त है
उसकी हैसियत इस्लाम की निगाह में बिल्कुल ऐसी है, जैसे किस
बादशाह की प्रजा उसके प्रति विद्रोह कर दे और उसके मुक़ाबले
अपना स्वतंत्र राज्य क़ायम कर ले, जिस तरह ऐसे शासन को उ
बादशाह का क़ानून कभी जायज़ नहीं मान सकता, उसी तरह इ
प्रकार की लोकतांत्रिक सरकार को खुदा का क़ानून भी स्वीकार नह
करता। ऐसे लोकतांत्रिक सरकार के तहत जो अदालतें क़ायम होंगी
चाहे उनके जज क़ौमी हैसियत से मुसलमान हों या गैर-मुस्लिम
उनके फ़ैसले भी उसी तरह निरस्त होंगे जैसे कि पहली और दूसर
शक्ल में बयान किये गये हैं।

जो कुछ कहा गया उसके सही होने पर पूरा क़ुरआन दलील
जुटाता है, फिर भी चूंकि पूछने वाले ने किताब व सुन्नत क
स्पष्टीकरण जानना चाहा है, इसलिए कुछ क़ुरआनी आयतें यहां पेश
की जाती हैं—

१. क़ुरआन के अनुसार अल्लाह मालिकुल मुल्क (बादशाहों क
बादशाह) है, रचना उसी की है, इसलिए स्वभावतः हुक्म का हक़
(Right to Rule) भी उसी को पहुंचता है, जिसके साम्राज्य (मुल्क
Dominion) में उसकी रचना पर खुद उसके सिवा किसी दूसरे क

हुक्म जारी होना और हुक्म चलना बुनियादी तौर पर ग़लत है।[1]

"कहो, ऐ अल्लाह, मुल्क के मालिक! तू जिसे चाहे हुकूमत दे और जिससे चाहे छीन ले।" —आले इम्रान: २६

"वह है अल्लाह तुम्हारा पालनहार! मुल्क उसी का है।" —फ़ातिर: १३

"बादशाही में कोई उसका (Partner) शरीक नहीं है।" —बनी इस्राईल: १७७

"इसलिए हुक्म अल्लाह बुजुर्ग व बरतर ही के लिए खास है।" —अल-मुअ्मिन: १२

"और वह अपने हुक्म में किसी को अपना हिस्सेदार नहीं बनाता।" —अल-कह्फ़: २६

"ख़बरदार ! ख़ल्क़ (रचना) उसी की है और हुक्म भी उसी का है।" —आराफ़: ५४

"लोग पूछते है, क्या हुक्म में कुछ हमारा भी हिस्सा है? कह दो कि हुक्म सारा का सारा अल्लाह के लिए मुख्य है।" —आले इम्रान: १५४

२. इस मूलाधार के कारण क़ानून बनाने का हक़ इंसान से पूर्ण रूप से छीन लिया गया है, क्योंकि इंसान रचना और प्रजा है, बन्दा और शासित है और उसका काम सिर्फ उस क़ानून की पैरवी करना है,

---

१. सिवाय इसके कि कोई उसके ख़लीफ़ा व नायब की हैसियत अपना करके उसके शरई क़ानून के मुताबिक़ शासन और निर्णय करे, जैसाकि आगे आता है।

जो मुल्क के मालिक ने बनाया हो।[1] उसके क़ानून को छोड़ कर जो व्यक्ति या संस्था खुद कोई क़ानून बनाती है या किसी दूसरे के बनाये हुए क़ानून को मान कर के उसके मुताबिक फ़ैसले करती है, वह 'ताग़ूत' है, बाग़ी और सत्य-पालन से बाहर है और उससे फ़ैसला चाहने वाला और उसके फ़ैसले पर अमल करने वाला भी विद्रोह का अपराधी है। क़ुरआन में है –

> "और तुम अपनी ज़ुबानों से जिन चीज़ों का ज़िक्र करते हो, उनके बारे में झूठ गढ़ कर यह न कह दिया करो कि यह हलाल (Lawful) है और यह हराम (Unlawful)।"
>
> –अन-नह्ल : ११६

> "जो कुछ तुम्हारे पालनहार की ओर से तुम्हारी ओर उतारा गया है, उसका पालन करो और उसके सिवा दूसरे औलिया (अपने ठहराये हुए कारसाज़ों) की पैरवी न करो।" –आराफ़ : ३

> "और जो उस क़ानून के मुताबिक़ फ़ैसला न करे, जो अल्लाह ने उतारा है, तो ऐसे तमाम लोग काफ़िर हैं।"

> "ऐ नबी ! क्या तुमने नहीं देखा उन लोगों को जो दावा तो करते हैं इस हिदायत पर ईमान लाने का, जो तुम पर और तुमसे पहले

---

१. क़ानूने इलाही की सीमाओं के भीतर अपनी इज्तिहादी सूझ-बूझ से धर्म शासन को तर्तीब देने का मामला दूसरा है, जो यहां विचाराधीन नहीं है। साथ ही जिन मामलों में अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल०) ने कोई स्पष्ट आदेश न दिया हो, उनमें शरीअत भावना और इस्लाम के स्वभाव को ध्यान में रखते हुए क़ानून बनाने का हक़ ईमान वालों को हासिल है, क्योंकि ऐसे मामलों में किसी स्पष्ट हुक्म का न होना अपने आप यह अर्थ रखता है कि उनके बारे में नियम व विधान बनाने का क़ानूनी हक़ ईमान वालों को दे दिया गया है।

नबियों पर उतारी गयी है और फिर चाहते हैं कि अपने मामले का फ़ैसला तागूत से करायें, हालांकि उन्हें हुक्म दिया गया कि ताग़ूत से कुफ़्र करें।"(अर्थात् उसके हुक्म को न मानें)

—अन-निसा : ६०

३. अल्लाह की धरती पर सही हुकूमत और सही अदालत वह है, जो इस क़ानून की बुनियाद पर क़ायम हो, जो उसने अपने पैग़म्बरों के ज़रिए से भेजा है, इसी का नाम 'ख़िलाफ़त' है —

"और हमने जो रसूल भी भेजा है, इसीलिए भेजा है कि अल्लाह के हुक्म से उसका पालन किया जाए।" —अन-निसा: ६४

ऐ नबी ! हमने तुम्हारी तरफ़ हक़ के साथ किताब उतारी, ताकि तुम लोगों के बीच इस रोशनी के मुताबिक़ फ़ैसला करो, जो अल्लाह ने तुम्हें दिखायी है।" —अन-निसा : १०५

"और यह कि तुम उनके बीच हुकूमत करो उस हिदायत के मुताबिक़ जो अल्लाह ने उतारी है और उनकी इच्छाओं का पालन न करो और होशियार रहो कि वे तुम्हें फ़ित्ने में डाल कर उस हिदायत के किसी अंश से न फेर दें, जो अल्लाह ने तुम्हारी ओर उतारी है। क्या ये लोग अज्ञानता का शासन चाहते हैं?"

-अल-माइदा : ५०

"ऐ दाऊद ! हमने तुमको ज़मीन पर ख़लीफ़ा मुक़र्रर किया है, इसलिए तुम हक़ के साथ लोगों के बीच हुकूमत करो और अपनी मनोकामनाओं का पालन न करो, वरना अल्लाह के रास्ते से वह तुमको भटका ले जाएंगी।" —साअद: २६

४. इसके विपरीत हर वह शासन और हर वह अदालत द्रोहपूर्ण है, जो अल्लाह की ओर से उसके पैग़म्बरों के लाये हुए क़ानून के

बजाय किसी दूसरी बुनियाद पर क़ायम हो, इसका विचार किये बिना कि विस्तार में जाने के बाद ऐसी हुकूमतों और अदालतों की शक्लें भले ही अलग-अलग हों, उनके तमाम काम बेबुनियाद और ग़लत हैं। उनके हुक्म और फ़ैसले के लिए सिरे से कोई जायज़ बुनियाद ही नहीं है। 'सच्चे मुल्क के बादशाह' ने जब उन्हें 'सुलतान' (Charter) दिया ही नहीं, तो वे जायज़ हुकूमतें और अदालतें किस तरह हो सकती हैं?[1] वे तो जो कुछ करती हैं, ख़ुदा के क़ानून के अनुसार सबका सब निरस्त है। ईमान वाले (अर्थात् ख़ुदा की वफ़ादार प्रजा) उनके वजूद को एक बाहरी घटना के रूप में मानते हैं, पर इंतिज़ाम के एक जायज़ वसीले और मुक़दमों का फ़ैसले करने वाले के रूप में नहीं मान सकते। उनका काम अपने असली शासक अल्लाह के बाग़ियों का आज्ञापालन करना और उससे अपने मामलों का फ़ैसला चाहना नहीं है और जो ऐसा करें, वे ईमान और इस्लाम के दावे के बावजूद वफ़ादारियों की श्रेणी से निकले हुए हैं। यह बात ख़ुली अक़्ल के ख़िलाफ़ है कि कोई हुकूमत एक गिरोह को बाग़ी क़रार दे और फिर अपनी प्रजा पर इन बाग़ियों की सत्ता को जायज भी माने और अपनी प्रजा को उनका हुक्म मानने की इजाज़त भी दे दें। क़ुरआन में है –

"हे नबी! इन से कहो क्या मैं तुम्हें बताऊँ कि अपने कर्मों की दृष्टि

---

१. चार्टर से हमारा तात्पर्य यह है कि जो ख़ुदा को मुल्क का मालिक और अपने आपको उसका ख़लीफ़ा (न कि स्वाधीन) मान ले, पैग़म्बर को उसका पैग़म्बर और किताब को उसकी किताब माने और अल्लाह की शरीअत के तहत हर काम करना क़ुबूल करे, सिर्फ़ ऐसी ही हुकूमत और अदालत को अल्लाह का चार्टर हासिल है। यह चार्टर ख़ुद क़ुरआन मजीद में दे दिया गया है कि 'लोगों के दर्मियान हुकूमत करो उस क़ानून के मुताबिक़, जो अल्लाह ने उतारा है।'

से सबसे ज़्यादा नामुराद व नाकाम कौन हैं? वे कि दुनिया की ज़िंदगी में, जिनकी पूरी कोशिश भटक गयी (अर्थात् इंसानी कोशिशों के वास्तविक लक्ष्य अल्लाह की रिज़ा से हट कर दूसरे उद्देश्यों के रास्ते में लगी) और वे समझ रहे हैं कि हम ख़ूब काम कर रहे हैं। ये वे लोग हैं, जिन्होंने अपने रब के हुक्मों को मानने से इंकार कर दिया और उसकी मुलाक़ात (उसके सामने हाज़िर होकर हिसाब देने) का अक़ीदा स्वीकार न किया। इसलिए उनके सब कर्म अकारथ हो गये और क़ियामत के दिन हम उन्हें कोई वज़न न देंगे।"
—अल-कह्फ़ : १०४-१०५

"ये आद हैं, जिन्होंने अपने पालनहार के हुक्मों को मानने से इंकार किया और उसके रसूलों की बात न मानी और हर हक़ के दुश्मन तानाशाह के हुक्म का पालन किया।"
—हूद : ५९

"और हमने मूसा को अपनी आयतें और स्पष्ट और रौशन सुलतान के साथ फ़िऔन और उसके राज्य के सरदारों के पास भेजा, मगर इन लोगों ने हमारे भेजे हुए व्यक्ति के बजाय फ़िऔन के हुक्म की पैरवी की। हालांकि फ़िऔन का हुक्म ठीक न था।" (अर्थात् मुल्क के मालिक के सुलतान पर आधारित न था।)
—हूद : ९७

"और तू किसी ऐसे व्यक्ति का आज्ञापालन न कर, जिसके दिल को हमने अपने ज़िक्र से (अर्थात् इस वास्तविकता की चेतना से कि हम उसके पालनहार हैं) ग़ाफ़िल कर दिया है, जिसने अपनी मनोकामना का पालन किया और जिसका हुक्म हक़ से हटा हुआ है।"
—अल-कह्फ़ : २८

"हे नबी! कह दो कि मेरे पालनहार ने हराम किया है गंदे कामों को, चाहे खुले हों या छिपे और नाफ़रमानी को और हक़ के बिना

एक दूसरे पर ज़्यादती करने को और इस बात को कि तुम अल्लाह के साथ (सम्प्रभुत्व या ईश्वरत्व में) उनको शरीक करो, जिनके लिए अल्लाह ने कोई सुलतान नहीं उतारा है।"—आराफ़ : ३३

"तुम अल्लाह को छोड़कर जिनकी बन्दगी करते हो, वे तो मात्र नाम हैं, जो तुमने और तुम्हारे अगलों ने रख लिए हैं। अल्लाह ने उनके लिए कोई सुलतान नहीं उतारा है, हुक्म सिर्फ अल्लाह के लिए ख़ास है। उनका फ़रमान है कि उसके सिवा किसी की बन्दगी न करो।" —युसुफ़ : ४०

"और जो कोई रसूल से झगड़ा करे, इसके बाद कि उसको सीधा रास्ता दिखाया गया और ईमानदारों का रास्ता छोड़ कर दूसरी राह चलने लगे, उसको हम उसी ओर चलाएंगे, जिधर वह खुद मुड़ गया और उसे जहन्नम में झोंकेंगे और वह बहुत ही बुरा ठिकाना है।" —अन-निसा : ११५

"अत: तेरे रब की क़सम! वे हरगिज़ ईमान वाले न होंगे, जब तक कि ऐ नबी! तुझको अपने आपसी मतभेदों में फ़ैसला करने वाला न मान लें।" —अन-निसा : ६५

"और जब कहा गया कि आओ उस हुक्म की ओर, जो अल्लाह ने उतारा है और आओ रसूल की ओर, तो तूने मुनाफ़िक़ों को देखा कि ये तुम्हारी ओर आने से कतराते हैं।" —अन-निसा : ६१

"और अल्लाह ने काफ़िरों (अर्थात् अपने साम्राज्य के विद्रोहियों) के लिए ईमान वालों (अर्थात् अपनी वफ़ादार प्रजा) पर कोई राह नहीं रखी है।" —अन-निसा : १४१

ये क़ुरआन की स्पष्ट आयतें हैं, इसमें कुछ भी अस्पष्ट नहीं है। इस्लाम की नैतिक व्यवस्था और संस्कृति-व्यवस्था की नींव जिस

केन्द्रीय अक़ीदे पर रखी गयी है, वही अगर अस्पष्ट रह जाती, तो क़ुरआन का उतरना, अल्लाह की पनाह, बेकार हो जाता। इस लिए क़ुरआन ने उसको इतने साफ़ और क़तई तरीक़े से बयान कर दिया है कि इसमें दो रायें होने की गुंजाइश ही नहीं है और क़ुरआन के ऐसे स्पष्टीकरण के बाद हम को ज़रूरत नहीं कि हदीस या फ़िक़्ह की तरफ रुजू करें।

फिर जबकि इस्लाम की सारी इमारत ही इसी आधारशिला पर खड़ी है कि अल्लाह ने जिस चीज़ के लिए कोई सुलतान न उतारा हो, वह निर्मूल है और अल्लाह के सुलतान से उदासीन होकर जो चीज़ भी क़ायम की गयी हो, उसकी क़ानूनी हैसियत सरासर निरस्त है, तो किसी ख़ास मामले के बारे में यह मालूम करने की कोई ज़रूरत नहीं रहती कि इस मामले में भी किसी ग़ैर-इलाही हुकूमत की अदालतों का फ़ैसला शरई तौर पर लागू होता है या नहीं। जिस बच्चे का वीर्य ही हराम से क़रार पाया हो, उसके बारे में यह कब पूछा जाता है कि उसके बाल भी हरामी हैं या नहीं? सुअर जब पूरे का पूरा हराम है, तो इसकी किसी बोटी के बारे में यह सवाल कब पैदा होता है कि वह भी हराम है या नहीं? अतः यह सवाल करना कि निकाह के ख़त्म कराने और दम्पति के बीच अलगाव कराने और तलाक़ डाल देने के बारे में ग़ैर-इलाही अदालतों का फ़ैसला लागू होता है या नहीं? इस्लाम को न जानने की दलील है और इसे न जानने की दलील यह है कि सवाल सिर्फ़ ग़ैर-मुस्लिम जजों के बारे में किया जाए, मानो सवाल करने वाले के नज़दीक जो नाम के मुसलमान ग़ैर-इलाही अदालत व्यवस्था के पुर्ज़ों की हैसियत से काम कर रहे हों, उनका फ़ैसला लागू हो ही जाता होगा, हालांकि सुअर के जिस्म की बोटी का नाम 'बकरे की बोटी' रख देने से न तो वह वास्तव में बकरे की बोटी बन जाती है और न ही हलाल हो सकती है।

इसमें संदेह नहीं कि इस्लाम के इस मूलाधार को मान लेने के बाद ग़ैर-इलाही हुकूमत के तहत मुसलमानों की ज़िदगी कठिन हो जाती है, लेकिन मुसलमानों की ज़िदगी आसान करने के लिए इस्लाम के पहले बुनियादी सिद्धान्त में संशोधन तो नहीं किया जा सकता, मुसलमान अगर ग़ैर-इलाही हुकूमतों के अन्दर रहने की आसानी चाहते हैं, तो उन्हें इस्लामी सिद्धान्त में संशोधन करने या दूसरे शब्दों में इस्लाम को ग़ैर-इस्लाम बनाने का अधिकार प्राप्त नहीं हां विधर्मी होने का मौक़ा ज़रूर हासिल है। कोई चीज़ यहां इसमें रोक नहीं। शौक़ से इस्लाम को छोड़कर जीवन के किसी आसान तरीक़े को स्वीकार कर सकते हैं, लेकिन अगर वे मुसलमान रहना चाहते हैं, तो उनके लिए सही इस्लामी तरीक़ा यह नहीं है कि ग़ैर-इलाही शासन व्यवस्था में रहने की आसानियां पैदा करने के लिए ऐसे हीले ढूंढते फिरें, जो इस्लाम के बुनियादी सिद्धान्तों से टकराते हों, बल्कि केवल एक रास्ता उनके लिए खुला हुआ है और वह यह कि जहां भी वे हों, शासन के दृष्टिकोण को बदलने और शासन-सिद्धान्त को ठीक करने की कोशिश में अपनी पूरी शक्ति लगा दें।

परिशिष्ट २

तलाक़ और अलगाव के यूरोप के क़ानून

(इस्लामी दाम्पत्य क़ानून का जो विस्तृत विवेचन पिछले पृष्ठों में पेश किया गया है, उनको देखकर पूरी तरह इस क़ानून की शान का अंदाज़ा नहीं किया जा सकता, जब तक कि उसके मुक़ाबले में दुनिया के उन क़ानूनों का अध्ययन न किया जाए, जिनके बारे में प्रगतिशील क़ानून होने का दावा किया जाता है। इस अध्ययन से यह भी मालूम होगा कि अल्लाह की हिदायत से बेनियाज़ होकर इंसान जब खुद अपना क़ानून साज़ (विधायक) बनता है, तो कितनी ठोकरें खाता है?)

इस्लामी क़ानून की विशेषताओं में से एक अहम विशेषता यह है कि उसके नियमों और बुनियादी हुक्मों में हद दर्जे का सन्तुलन पाया जाता है। एक ओर वह नैतिकता का उच्चतम लक्ष्य नज़र में रखता है, तो दूसरी ओर मानव-प्रकृति की कमज़ोरियों को भी नज़रंदाज नहीं करता। एक ओर वह सांस्कृतिक और सामूहिक मस्लहतों की रियायत को ध्यान में रखता है, तो दूसरी ओर व्यक्तियों के अधिकारों का हनन भी नहीं होने देता। एक ओर वह वाक़ई हालात पर निगाह रखता है, तो दूसरी ओर ऐसी संभावनाओं को भी नज़र से ओझल नहीं होने देता, जिनके किसी भी वक़्त घटित हो जाने की आशा है। तात्पर्य यह कि यह एक ऐसा संतुलित क़ानून है, जिसका कोई क़ायदा और कोई हुक्म अतियों का शिकार नहीं है। क़ानूनसाज़ी में

जितने विभिन्न पहलुओं पर ध्यान रखना ज़रूरी है, इन सबका इस्लाम में सैद्धान्तिक हैसियत से ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक रूप से पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है और उनके बीच सही संतुलन क़ायम रखा गया है कि कहीं किसी एक ओर अनुचित झुकाव और किसी दूसरे पहलू से अन्यायपूर्ण विमुखता दिखायी नहीं देती। यही वजह है कि आज चौदह सौ वर्ष से यह क़ानून विभिन्न सांस्कृतिक परिस्थिति और अनेक ज्ञानात्मक पदों और स्वभावपरक भावना रखनेवाली क़ौमों में रायज रहा है और कहीं किसी व्यक्ति या सामूहिक अनुभवों ने उसके किसी बुनियादी हुक्म को ग़लत या संशोधन योग्य नहीं पाया। यही नहीं, बल्कि मानव-चिन्तन ज़बरदस्त कोशिशों के बावजूद, उसको किसी चीज़ का ऐसा बदल तज्वीज़ करने में भी सफल न हो सका जो संतुलन और अनुपात में उसके क़रीब भी पहुंचता हो।

यह दशा जो इस्लामी क़ानून में पायी जाती है, केवल ख़ुदा की हिक्मत और दानाई का नतीजा हो सकती है। इन्सान अपनी-अपनी अनिवार्य सीमितताओं के साथ कभी इस पर समर्थ ही नहीं हो सकता कि किसी समस्या के तमाम पहलुओं को घेरे, वर्तमान और भविष्य पर समान नज़र रखे, ख़ुद अपनी और अपने तमाम मानवों के स्वभाव के छिपे और ज़ाहिर गुणों पर पूरा ध्यान दे, अपने माहौल के प्रभावों से बिल्कुल आज़ाद हो जाए और अपनी भावनाओं और नैसर्गिक रुझानों और बौद्धिक कोताहियों और ज्ञानात्मक दूरियों से पूरी तरह पाक होकर कोई ऐसा नियम बना सके जो हर हाल और हर ज़माने और हर ज़रूरत पर ठीक-ठीक न्याय और अनुकूलता के साथ चरितार्थ हो सकता हो। यही वजह है कि जितने क़ानून मानव-चिन्तन पर आधारित होते हैं, उनमें सही संतुलन नहीं होता, कहीं सिद्धान्तों की असावधानी

होती है, कहीं मानव प्रकृति के अनेक पहलुओं की रियायत में कोताही की जाती है, कहीं व्यक्तियों के हक़ों और वाजिबात तय करने में न्याय नहीं होता, कहीं व्यक्तियों और समूह के बीच सीमाओं के खींचने और अधिकारों के बंटवारे में अन्याय होता है, तात्पर्य यह है कि हर नये तजुर्बे और बदलते हालात और हर बदलते हुए ज़माने में ऐसे क़ानूनों की कमज़ोरियां ज़ाहिर होती रहती हैं और इन्सान मजबूर होता है कि या तो उनमें संशोधन करे या अक़ीदे की दृष्टि से उनका अनुपालक रह कर व्यावहारिक रूप से उनकी पाबंदी से आज़ाद हो जाए।

ख़ुदाई क़ानून और इंसानी क़ानून के बीच यह बुनियादी अन्तर इतना खुल चुका है कि अंधों के अलावा हर व्यक्ति उसको देख सकता है। कल तक पक्षपात या अज्ञानता की वजह से इस्लामी क़ानून के जिन हुक्मों और सिद्धान्तों पर बढ़-बढ़ कर हमले किये जाते थे और उनके मुक़ाबले में इन्सानी क़ानूनों के जिन सिद्धान्तों और क़ायदों पर गर्व व्यक्त किया जाता था, आज उनके बारे में किसी बहस और तक़रार के बिना मात्र घटनाओं के इंकार न करने योग्य गवाहियों से यह बात साबित हो गयी है और होती जा रही है कि जो कुछ इस्लाम ने सिखाया था, वही सही था, उसके ख़िलाफ़ जितने तरीक़े इन्सानी क़ानूनों ने तज्वीज़ किये थे, वे सब ग़लत और न मानने योग्य निकले, अगरचे विचार-जगत में वे बहुत ही चमकते नज़र आते थे और ज़ुबानें अब भी उनकी नाकामी को स्वीकार करने से इंकार करती हैं, पर व्यावहारिक रूप से दुनिया उन क़ानूनों को तोड़ रही है, जिनको कल तक वह अति पवित्र और संशोधन करने योग्य समझती थी और धीरे-धीरे उन सिद्धान्तों और क़ायदों की ओर रुजू कर रही है, जो इस्लाम ने मुक़र्रर किये थे, किन्तु 'अब पछताए होत का, जब चिड़िया चुग गयी खेत।'

मिसाल के तौर पर तलाक़ की समस्या को ले लीजिए, जिस पर अभी कुछ साल पहले तक मसीही दुनिया मुसलमानों को कैसे-कैसे ताने देती थी और बहुत से रौब खाये मुसलमानों को शर्मिन्दगी के मारे जवाब बन न आता था, पर देखते-देखते घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि मियां-बीवी के पवित्र बंधन को न काटने योग्य बना देना और क़ानून में तलाक़ व खुलअ़ और फ़स्ख़ और अलगाव की गुंजाइश न रखना ईसाई मत का कोई विवेकपूर्ण कार्य न था, बल्कि मात्र मानव-चिन्तन के असन्तुलन का फल था और उसमें चरित्र और मानवता और संस्कृति-व्यवस्था का हित नहीं, बल्कि तबाही के कारण छिपे हुए थे।

मसीह के ये शब्द कितने शानदार हैं–

"जिसे ख़ुदा ने जोड़ा, उसे आदमी जुदा न करे।"

–मत्ती : १९-६

पर इसाईयों ने नबी के इस कथन का मंशा न समझा और इसे नैतिक आदेश के बजाए दाम्पत्य क़ानून की बुनियाद बना लिया। अंजाम क्या हुआ? ईसाई जगत सदियों तक इस अव्यवहार्य क़ानून के ख़िलाफ़ हीलों और छल-कपट के साथ अमल करती रही, फिर क़ानून की ख़िलाफ़वर्ज़ी की बुरी आदत इतनी बढ़ गयी कि जो नैतिक सीमाएं दाम्पत्य-बंधन से अधिक पवित्र थीं, उनको भी ज़्यादा-से-ज़्यादा और एलानिया तोड़ा जाने लगा। आख़िरकार इन्सानों ने मजबूर होकर उस क़ानून में कुछ आंशिक और अपूर्ण संशोधन किये, जिसको वे ग़लती से ख़ुदा का क़ानून समझ रहे थे, पर सुधार का यह क़दम उस वक़्त उठाया गया, जब क़ानून तोड़ने की आदत ने हज़रत ईसा अलै० के मानने वालों के दिलों में ख़ुदा की जोड़ी हुई किसी चीज़ का भी आदर बाक़ी न छोड़ा था। नतीजा यह हुआ कि इन आंशिक और अति अपूर्ण

संशोधनों ही के कारण ईसाई जगत में तलाक़ और फ़स्खे निकाह और अलगाव का एक तूफ़ान उमड़ आया, जिसकी तेजी से परिवार-व्यवस्था की 'पवित्र दीवारें' टूटती-फूटती चली जा रही हैं। इंग्लैंड में जहां १८८१ ई० में सिर्फ़ १६६ अलगाव हुए थे, वहां १९३३ ई. में चार हज़ार से ज़्यादा अलगाव हुए यानी ख़ुदा के जोड़े हुए हर ७९ रिश्तों में से एक को आदमी ने जुदा कर दिया। अमरीका जहां १८६६ ई० में ३५ हज़ार अलगाव हुए थे, वहां १९३१ ई० में एक लाख तिरासी हज़ार पवित्र रिश्ते तोड़ दिये गये। फ्रांस में तो अब क़रीब-क़रीब हर पन्द्रह शादियों में से एक का अंजाम तलाक़ पर हो रहा है और कमोबेश यही हाल दूसरे पश्चिमी देशों का भी है।

हज़रत ईसा अलै० ने जो शिक्षा दी थी, उससे मिलती-जुलती शिक्षा क़ुरआन में भी है। क़ुरआन भी कहता है—

> "जो लोग अल्लाह के वचन को मज़बूत करने के बाद तोड़ते हैं और उन ताल्लुक़ात को काटते हैं, जिन्हें अल्लाह ने जोड़ने का हुक्म दिया है और ज़मीन में बिगाड़ पैदा करते हैं, यकीनन वही नुक़्सान उठाने वाले है।" — अल-बक़र: २७

हज़रत ईसा ने यहूदियों की 'सख़्तदिली' और तलाक़ की अधिकता के विरूद्ध नफ़रत दिलाने के लिए कहा था—

> "जो कोई अपनी बीवी को हरामकारी के सिवा किसी और कारण से छोड़ दे और दूसरा निकाह करे, वह ज़िना करता है।"
> —मत्ती : १९ : ९

मुहम्मद सल्ल० ने भी इसी उद्देश्य के लिए इससे ज़्यादा जंचे-तुले शब्दों में तलाक़ को 'जायज़ कामों में सबसे ज़्यादा बुरा काम' फ़रमाया और नफ़्सपरस्ती के लिए तलाक़ देने वाले को लानत फ़रमायी।

पर ये नैतिकता के उच्चतम सिद्धान्त सिर्फ़ व्यक्तियों की शिक्षा के लिए थे, ताकि वे अपने अमल में इनको दृष्टि में रखें, न यह कि इन्हीं को ठीक इसी तरह लेकर एक क़ानून की शक्ल में बदल दिया जाए। मुहम्मद सल्ल० केवल नैतिकता की शिक्षा देने वाले ही न थे, बल्कि साहिबे शरीअत भी थे, इसलिए आपने नैतिकता के सिद्धान्तों का बयान करने के साथ यह भी बता दिया कि क़ानून में इन नैतिक सिद्धान्तों के मिलाने का सही अनुपात क्या होना चाहिए और नैतिकता-सिद्धान्त और इन्सानी स्वभाव के तक़ाज़ों के बीच किस तरह सन्तुलन क़ायम रह सकता है। इसके विपरीत हज़रत ईसा अलैहिस्सलाम साहिबे शरीअत न थे, बल्कि शरीअत जारी करने की नौबत आने से पहले ही दुनिया में उनकी नुबूवत का मिशन ख़त्म हो गया था, इसलिए उनके कथनों में नैतिकता के आरंभिक सिद्धान्तों के सिवा कुछ नहीं मिलता। जीवन की व्यावहारिक समस्याओं पर इन सिद्धान्तों को सही तौर पर चरितार्थ करने का काम अगर हो सकता था, तो मूसवी शरीअत की रोशनी में ही हो सकता था;मगर ईसाई यह समझे और सैंट पाल ने उनको यह समझाया कि इन सिद्धान्तों को पा लेने के बाद अब हम अल्लाह की शरीअत से बेनियाज़ हो चुके हैं और यह ख़ुदा और उसके रसूल का नहीं, बल्कि 'चर्च' का काम है कि इन सिद्धान्तों के आधार पर ख़ुद क़ानून बनाये।

यह शानदार ग़लतफ़हमी थी; जिसने चर्च और उसके मानने वालों को हमेशा के लिए गुमराही में डाल दिया। ईसाई मत का दो हज़ार वर्षीय इतिहास गवाह है कि सय्यिदिना मसीह अलैहिस्सलाम ने जितने धर्म-नियम बताये थे, उनमें से किसी एक की बुनियाद पर कभी कोई सही क़ानून बनाने में चर्च को सफलता नहीं मिली और आख़िरकार ईसाई क़ौमें इन सिद्धान्तों ही से विमुख होने पर मजबूर हो गयीं।

मसीह ने तलाक़ की जो बुराई की थी, उसमें 'हरामकारी' का अपवाद करके मानो इस बात की ओर इशारा कर दिया था कि तलाक़ बिल्कुल कोई बुरी चीज़ नहीं, बल्कि जायज़ वजह के बग़ैर नापसन्दीदा है। ईसाई इसको न समझे और ऊपर वाली आयत, 'जिसे ख़ुदा ने जोड़ा है उसे आदमी जुदा न करे' से टकराता हुआ समझ कर कुछ लोगों ने तो यह राय क़ायम कर ली कि यह अपवाद बाद की वृद्धि है और कुछ न इससे यह मसूअला निकाल लिया कि 'हरामकारी' की शक्ल में दम्पति के बीच जुदाई तो करा दी जाए, पर निकाह-बंधन बराबर बना रहे अर्थात् दोनों में से किसी को भी दूसरा निकाह करने की इजाज़त न हो। सदियों तक ईसाई जगत इसी पर अमल करता रहा। दूसरे क़ानूनों के साथ यह क़ानून भी ईसाई क़ौमों के अन्दर दुराचरण के रिवाज का बहुत कुछ ज़िम्मेदार है।

मज़े की बात तो यह है कि चर्च के असर से आज़ाद हो जाने और बिल्कुल बौद्धिक नियमों पर क़ानूनसाज़ी का दावा करने के बावजूद इंग्लैंड और अमेरिका जैसे देशों में अब तक क़ानूनी अलगाव (Judicial Separation) का अर्थ यही समझा जाता है कि दम्पति को एक-दूसरे से अलग कर दिया जाए, पर दोनों दूसरे निकाह का अधिकार न रखें। यह है इन्सानी बुद्धि की कोताहियों का हाल! रूमी चर्च के धार्मिक क़ानून (Cannon Law) में उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर जो क़ायदे बनाये गये थे, उनके अनुसार तलाक़ (Divorce) अर्थात् निकाह-बंधन का पूर्ण विच्छेद, जिसके बाद दम्पति को अलग-अलग निकाह करने का अधिकार प्राप्त हो, क़तई तौर पर वर्जित था, हां अलगाव के लिए छः सूरतें प्रस्तावित की गयी थीं—

१. ज़िना या अप्राकृतिक यौनाचार,
२. नामर्दी,

३. ज़ालिमाना बर्ताव,

४. कुफ़्र,

५. धर्म-विमुखता,

६. दम्पति के दर्मियान हराम ख़ूनी रिश्तों में कोई रिश्ता निकल आना।

इन छः शक्लों में जो क़ानूनी तरीक़ा तज्वीज़ किया गया था, वह यह था कि दम्पति एक दूसरे से अलग हो जाएं और हमेशा ब्रह्मचर्य जीवन जिएं। कौन बुद्धि वाला इस रास्ते को बुद्धि के अनुसार कह सकता है? वास्तव में यह कोई क़ानूनी तरीक़ा न था, बल्कि एक सज़ा थी, जिसके भय से लोग अलगाव के मुक़दमे ही अदालतों में ले जाते हुए डरते थे और अगर किसी दुर्भाग्य के मारे हुए जोड़े में अलगाव हो जाता था, तो उसे अनिवार्य रूप से सन्यासियों का-सा जीवन गुज़ारना पड़ता था या फिर पूरी उम्र हरामकारी में पड़ा रहना पड़ता था।

इन सख़्त और अव्यवहार्य क़ानून से बचने के लिए मसीही उलेमा ने बहुत से शरई हीले निकाल रखे थे, जिनसे काम लेकर 'चर्च' का क़ानून ऐसे भाग्यहीन जोड़े का निकाह ख़त्म कर देता था। दूसरे हीलों के साथ एक हीला यह था कि अगर किसी तौर पर यह साबित हो जाए कि ज़ोड़े ने पूरी उम्र साथ रहने का जो वचन दिया था, वह बे-इरादा उनसे हो गया था, वरना वास्तव में उनका उद्देश्य मात्र एक सीमित अवधि के लिए दाम्पत्य-बंधन में बंधना था (अर्थात मुतआ), तो इस शक्ल में धार्मिक अदालत निकाह ख़त्म कराने का सही शब्दों में निकाह के झुठलाने (Nullity) का एलान कर देगी, पर ईसाई क़ानून के अनुसार 'निकाह के झुठलाने' का अर्थ क्या है? यह कि दम्पति में कोई निकाह ही नहीं हुआ, अब तक उनके बीच नाजायज़ ताल्लुक़ात थे और उनसे जो औलाद हुई वह हरामी थी। इस अर्थ के अनुसार यह दूसरा क़ानूनी रास्ता पहले से भी अधिक रुसवाई डालने वाला था।

रोमन चर्च के मुक़ाबले में धार्मिक चर्च (Orthodox Eastern Church) ने, जिसको इस्लामी फ़िक़्ह से प्रभावित होने के बहुत ज़्यादा अवसर मिले, अपेक्षतः एक बेहतर और व्यवहार्य क़ानून बनाया है। उसके नज़दीक निकाह-बंधन से दम्पति को निम्न कारणों से आज़ाद किया जा सकता है—

१. ज़िना और उसके मुक़दमे,
२. धर्म-विमुखता,
३. शौहर का अपनी ज़िंदगी को क़िस्सीस (राहिब) की हैसियत से धार्मिक सेवा के लिए वक़्फ़ करना,
४. विद्रोह,
५. सरकशी,
६. नामर्दी,
७. जुनून (पागलपन),
८. बर्स व जुज़ाम (सफ़ेद दाग़ और कोढ़),
९. लंबी मुद्दत के लिए क़ैद होना,
१०. आपसी नफ़रत या स्वभाव में ज़बरदस्त प्रतिकूलता।

लेकिन पश्चिमी देशों के मज़हबी पेशवा इस क़ानून को नहीं मानते। वे रोमी-चर्च की फ़िक़्ह पर ईमान ला चुके हैं, जिसमें क़तई तौर पर तय कर दिया गया है कि विवाह-बंधन मौत के अलावा किसी और से नहीं टूट सकता। अब इस फ़त्वे के बाद उनके लिए बुद्धि से काम लेना तो दूर की बात, स्वयं अपने ही मत के एक दूसरे फ़िक़्ही धर्म पर विचार करना भी हराम है। सन् १९१२ ई० के रायल कमीशन के सामने बिशप गोरे (Bishop Gore) ने पूर्वी चर्च की फ़िक़्ह से कुछ मसाइल निकाल लेने का विरोध सिर्फ़ इस हुज्जत के कारण किया कि अंग्रेजी चर्च रोमन चर्च की फ़िक़्ह का अनुपालन करता है।

सन् १९३० ई. की Lambeth Conference में स्पष्ट शब्दों में फ़ैसला किया गया कि हम किसी ऐसे मर्द या औरत का निकाह ही नहीं पढ़ा सकते, जिसका पूर्व जीवन-साथी अभी ज़िंदा मौजूद हो। अन्तिम सुधार जिस पर सन् १९३५ ई० में इंग्लैंड के धार्मिक पेशवाओं की एक मज्लिस (Joint Committee of Convocation) सहमत हुई है, वह यह है कि अगर निकाह से पहले कोई फ़रीक़ गन्दे और संक्रामक रोगों का शिकार हो या औरत गर्भवती हो और निकाह के वक़्त उसने शौहर से अपने गर्भ को छिपा रखा हो, तो निकाह ख़त्म किया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि अगर निकाह के बाद ऐसी कोई शक्ल पेश आए, तो न औरत के लिए धार्मिक हैसियत से कोई रास्ता है और न मर्द के लिए।

यह तो था धार्मिक गिरोहों का हाल, जिसमें सदियों तक बराबर बड़े-बड़े उलेमा और फ़ुक़हा पैदा हुए, पर शुरू में उनके पेशवाओं से मसीह अलैहिस्सलाम के एक इर्शाद का अर्थ और उसकी क़ानूनी हैसियत समझने में जो ग़लती हो गयी थी, उसका असर उनके दिल व दिमाग़ पर ऐसा गहरा जम गया कि लम्बी मुद्दत के गुज़रने, हालात के बदल जाने, ज्ञान-विज्ञान में उन्नति होने,मानव-प्रकृति का अध्ययन, सैकड़ों वर्ष के अनुभव, ख़ुद खुली बुद्धि के फ़ैसले और दूसरे बेहतर क़ानूनों की नज़ीरें, सारांश यह कि ये सब चीज़ें मिल-जुल कर भी उन को इस असर से आज़ाद न कर सकीं और दो हज़ार वर्ष की लम्बी मुद्दत में भी रोमी चर्च के बेहतरीन दिमाग़ अपने क़ानून का सन्तुलन ठीक करने और उसके बीच के सही नक़्शे पर लाने में सफल न हो सके।

अब तनिक एक नज़र उन रोशन ख़्याल और गहरा ज्ञान व अनुभव रखने वाले क़ानून के निर्माताओं के कारनामों पर भी डाल लीजिए, जिन्होंने मज़हबी क़ानूनों के बन्धनों से आज़ाद होकर अपनी

क़ौमों के लिए ख़ुद अपने ज्ञान के बल-बूते पर पारिवारिक क़ानून बनाये हैं।

फ्रांस की क्रांति से पहले तक यूरोप के अधिसंख्य देशों में रोमन चर्च का धार्मिक क़ानून लागू था और उसने दूसरे ऐसे ही क़ानूनों के साथ मिल कर पश्चिमी क़ौमों के रहन-सहन और उनके चरित्र को बहुत ही भयानक ख़राबियों में फंसा रखा था। क्रान्ति-युग में जब स्वतंत्र आलोचना और स्वच्छंद चिन्तन की हवा चली, तो सबसे पहले फ्रांस वालों ने इस क़ानून की कमज़ोरियों को महसूस किया और यह देख कर कि धार्मिक विद्वान किसी तरह उसके सुधारने पर तैयार नहीं किये जा सकते, सिरे से उसका जुआ ही अपने कंधों से उतार फेंका (१७९२ ई०)। इसके बाद यही हवा दूसरे देशों में भी चली और धीरे-धीरे इंग्लैंड, जर्मनी, आस्ट्रिया, बेल्जियम, हालैंड, स्वीडन, डेन्मार्क, स्विट्ज़रलैंड आदि भी धार्मिक क़ानून को छोड़कर निकाह व तलाक के अपने-अपने अलग-अलग कानून गढ़ लिए, जिनमें कानूनी अलगाव और निकाह के समाप्त करा देने के अलावा तलाक़ के लिए गुंजाइश रखी गयी है।

इस तरह ईसाई क़ौमों की एक भीड़ का अपने—अपने क़ानूनों से आज़ाद हो जाना प्रत्यक्ष परिणाम है उस तंग नज़री, जिहालत और पक्षपात का, जिसके आधार पर मसीही विद्वान एक व्यवहार में न लाने योग्य, अप्राकृतिक और अतिहानिप्रद क़ानून को जबरन, मात्र धर्म की ताक़त से थोपे रहने का आग्रह कर रहे थे। यह क़ानून ख़ुदा का बनाया हुआ न था, मात्र कुछ इंसानों के इज्तिहाद पर आधारित था, लेकिन पादरियों ने उसको ख़ुदाई क़ानून की तरह पवित्र और अकाट्य बना दिया। उन्होंने इसकी खुली हुई ग़लतियों, हानियों, और बुद्धि के ख़िलाफ़ बातों को देखने और समझने से क़तई इंकार कर दिया, सिर्फ़ इसलिए कि कहीं सेंटपाल और फ़लां पिछले इमामों के निकाले हुए

मस्अलों में ग़लती की संभावना ही मान लेने से उनका ईमान ही न छिन जाए, यहां तक कि उन्होंने ख़ुद अपने दीन के एक-दूसरे फ़िक़्ही मत से भी लाभ उठाने का विरोध किया, इस कारण नहीं कि पश्चिमी चर्च का क़ानून पूर्वी चर्च के क़ानून से बेहतर है, बल्कि केवल इस कारण कि 'हम पश्चिमी चर्च के मानने वाले हैं।' धार्मिक पेशवाओं के इस तरीक़े ने पश्चिमी क़ौमों के लिए अलावा इसके कोई रास्ता न छोड़ा कि वे ऐसे क़ानूनों के बन्धनों को तोड़ फेकें, जिसकी ग़लतियां और हानियां ज़ाहिर होने के बाद भी सुधार योग्य नहीं समझी जातीं।

एक पारिवारिक क़ानून ही पर क्या आश्रय, वास्तव में यही पादरियाना ज़ेहनियत यूरोप की क़ौमों को अनीश्वरवाद, भौतिकवाद और अधार्मिकता की ओर धकेल—धकेल कर ले गयी।

धार्मिक क़ानून से आज़ाद हो जाने के बाद पश्चिमी देशों में पिछले सत्तर-अस्सी साल के भीतर जो पारिवारिक क़ानून गढ़े गये हैं, उनको बनाने में यद्यपि सैकड़ों-हज़ारों दिमाग़ों ने अपनी बेहतरीन योग्यताओं के साथ हिस्सा लिया है और अनुभवों की रोशनी में लगातार संशोधन और सुधार भी करते रहे हैं, लेकिन इन सब बातों के बावजूद उनके क़ानूनों में वह सन्तुलन कहीं पैदा नहीं हो सका है जो अरब के एक उम्मी (अपढ़) अलैहिस्सलातु वस्सलाम के पेश किये क़ानूनों में पाया जाता है। यही नहीं, बल्कि धार्मिक क़ानून से आज़ाद होकर भी वे अपने दिल व दिमाग़ को उन विचारों से अब तक पाक नहीं कर सके हैं, जो उन्हें रोमन चर्च के आरंभिक संस्थापकों से विरासत में मिले हैं।

मिसाल के तौर पर इंग्लैंड के क़ानून को लीजिए। १९५७ ई० से पहले तक सिर्फ़ ज़िना और ज़ालिमाना बर्ताव, दो ऐसे कारण थे, जिनकी वजह से क़ानूनी अलगाव का फ़ैसला किया जाता था। तलाक़, जिसके बाद दम्पति दूसरे निकाह के लिए आज़ाद हों, उस वक़्त तक वहां वर्जित था। १९५७ ई० के क़ानूनों में उपर्युक्त दो वजहों के

साथ ईला या पति-पत्नी सम्बन्ध-विच्छेद (Desertion) को भी अलगाव की एक जायज़ वजह क़रार दिया गया, बशर्ते कि दो साल या उससे ज़्यादा मुद्दत तक जारी रहा हो। इसके अलावा उसी क़ानून में तलाक़ (अर्थात् विवाह-बन्धन से पूर्ण मुक्ति) को भी जायज़ किया गया, पर इसके लिए अनिवार्य कर दिया गया कि मर्द अदालत से रुजू करे, अपने आप वह तलाक़ नहीं दे सकता और इसी तरह औरत के लिए अनिवार्य किया गया कि अगर वह तलाक़ लेना चाहे, तो घर के घर ही में मर्द से मामला नहीं कर सकती, बल्कि हर हाल में उसे भी अदालत में ही रुजू करना होगा। फिर अदालत के लिए तलाक़ की डिग्री देने की सिर्फ़ एक ही शक्ल रखी गयी और वह यह कि अगर मर्द तलाक़ चाहता हो तो वह बीवी का ज़िना में पड़ना साबित करे और अगर औरत तलाक़ चाहती हो तो शौहर के ज़िना में पड़ने और उसके साथ ही ज़ालिमाना बर्ताव या सरकशी का भी सबूत दे। इस तरह मानो मर्दों और औरतों को मजबूर किया गया चाहे वे किसी वजह से एक-दूसरे को छोड़ना चाहते हों, बहरहाल उनको एक-दूसरे पर ज़िना का आरोप ज़रूर लगाना पड़ेगा और एक खुली अदालत में उसका सबूत देकर हमेशा के लिए समाज के एक व्यक्ति के जीवन को दाग़दार बना देना होगा। इस क़ानून ने ज़िना के झूठे आरोपों के लिए दरवाज़ा खोला। अदालतों को समाज के तमाम गन्दे कपड़े धोने की जगह बना दिया और फिर तलाक़ की अदालतों के मुक़दमों का प्रचार मानों दुराचारों के प्रचार का साधन बन गया, साथ ही इस क़ानून ने शौहरों को दय्यूसी[1] की भी तालीम दी, क्योंकि इसमें शौहर को यह हक़ दिया गया था कि वह चाहे तो अपनी बीवी के नाजायज़ दोस्त से हर्जाना भी

---

1. अपनी स्त्री की कमाई खाना या अपनी औरत से पेशा कराना।

वसूल कर सकता है। हर्जाना अर्थात् बीवी की आबरू का मुआवज़ा, नाजायज़ फ़ायदा उठाने की क़ीमत, जो चकला चलाने वालों की आमदनी का ज़रिया हुआ करता है।

१८८६ ई० के क़ानून में अदालत को यह अधिकार दिया गया कि अगर वह चाहे तो निकाह को तोड़ने के साथ-साथ ख़ताकार शौहर पर तलाक़शुदा औरत के नफ़क़े का बोझ भी डाल सकती है। १९०७ के क़ानून में शौहर के ख़ताकार होने की शर्त उड़ा दी गयी और अदालत को पूरी तौर पर यह अधिकार दे दिया गया कि जहां मुनासिब समझे, तलाक़शुदा औरत के नफ़क़े की ज़िम्मेदारी डाल दे। यह औरतों के साथ खुला हुआ पक्षपात और यहां साफ़ तौर पर सन्तुलन बिगड़ा हुआ नज़र आता है। जब औरत और मर्द के बीच कोई रिश्ता बाक़ी न रहा, तो मात्र पूर्व संबन्ध की वजह से एक ग़ैर-औरत को एक ग़ैर-मर्द से नफ़क़ा दिलवाना, जब कि उस नफ़क़ा के मुक़ाबले में मर्द को कोई चीज़ हासिल नहीं होती, न बुद्धि के हिसाब से सही और न उसको न्याय पर आधारित कहा जा सकता है।

सन् १८९५ ई० के क़ानून में यह तय किया गया कि अगर औरत अपने शौहर के ज़ुल्म व सितम की वजह से उसका घर छोड़ कर निकल जाए और उससे अलग रहे, तो अदालत शौहर को उसके पास जाने से रोक देगी और उससे नफ़क़ा दिलवाएगी और बच्चों को भी अपने पास रखने का हक़दार बना देगी।

इसी क़ानून में यह भी तय किया गया कि अगर औरत अपने शौहर के बुरे बर्ताव या बेपरवाई की वजह से ज़िना का शिकार हो, तो उसके ख़िलाफ़ तलाक़ के लिए शौहर का दावा सुनने के क़ाबिल होगा। ज़रा इसके अर्थ पर विचार कीजिए। शौहर का ज़ुल्म साबित करके औरत उससे अलग जा रहे, शौहर को पास न फटकने दे, ख़र्च

के लिए रुपए उससे ले और ज़िंदगी का मज़ा दोस्तों से उठाये, फिर अगर शौहर ऐसी औरत से पीछा छुड़ाना भी चाहे, तो न छुड़ा सके। यह है वह पारिवारिक क़ानून जो १९वीं सदी के आख़िरी दौर में इंग्लैंड के बेहतरीन दिमाग़ों ने पचास वर्ष की लगातार मेहनतों से बनाया था।

सन् १९१० ई० में तलाक़ और दाम्पत्य मामलों पर विचार करने के लिए एक शाही कमीशन नियुक्त किया गया, जिसने तीन साल के परिश्रम के बाद १९१२ के अंत में अपनी रिपोर्ट पेश की। इस रिपोर्ट में तज्वीज़ें पेश की गयी थीं, उनमें से कुछ ये हैं-

१. तलाक़ की वजहों के एतबार से मर्द और औरत दोनों को समान क़रार दिया जाए अर्थात् जिन कारणों से मर्द तलाक़ की डिग्री पाने का अधिकारी है, उन्हीं कारणों से औरत भी तलाक़ हासिल करने की अधिकारी हो जैसे अगर शौहर एक बार भी ज़िना कर बैठे तो औरत उससे तलाक़ ले ले।

२. तलाक़ की पिछली वजहों में निम्नलिखित की वृद्धि की गयी–

–तीन साल तक छोड़े रखना,

–दुर्व्यवहार,

–इलाज न करने योग्य जुनून (पागलपन), जबकि उस पर पांच साल बीत चुके हों,

–शराबीपन[1] की ऐसी लत्, जिसके छूटने की उम्मीद न रही हो।

–वह क़ैद की सज़ा जो मौत की सज़ा से साफ़ कर दी गयी हो।

---

१. शराबीपन का अर्थ पश्चिमी परिभाषा में आदतन शराब पीने के नहीं है, बल्कि हद से ज़्यादा शराब पीकर हंगामा करने, ऊधम मचाने और मार-पीट और गालम-गलौज और खुले आम बेहूदगियां करने के हैं।

३. शराबीपन के कारण तीन साल के लिए दम्पति में अलगाव कराया जाए और अगर इस मुद्दत में यह लत न छूटे, तो नुक़्सान पहुंचे फ़रीक़ को तलाक़ की डिग्री हासिल करने का हक़ हो।

४. निकाह से पहले अगर किसी फ़रीक़ को जुनून (पागलनपन) या गंदे रोगों में से कोई रोग हो और दूसरे फ़रीक़ से छिपाया गया हो या औरत गर्भवती हो और उस ने अपना गर्भ छिपा रखा हो, तो इसको निकाह ख़त्म करने के लिए काफ़ी समझा जाए।

५. तलाक़ के मुक़दमों की रिपोर्टें मुक़दमें के दौरान न छापी जाएं और बाद में अदालत रिपोर्ट के जिन हिस्सों को छापने की इजाज़त दे, सिर्फ़ उन्हीं को छापा जाए।

इन तज्वीज़ों में से सिर्फ़ पहली तज्वीज़ को, जो सबसे नामाक़ूल थी, क़बूल करके १९२३ ई० के दम्पति के मामलों के क़ानून (Matrimonial Cases Act) में छाप दिया गया। बाक़ी जितनी तज्वीज़ें थीं, उनमें से किसी को भी अब तक क़ानून की शक्ल नहीं दी गयी है, क्योंकि कंटर बेरी के सबसे बड़े पोप और कुछ दूसरे असरदार लोग उनसे मतभेद रखते हैं।

इंग्लैंड के बेहतरीन क़ानूनी दिमाग़ों की सोच का अन्दाज़ा इससे कर लीजिए कि वह औरत मर्द के ज़िना करने का क़ानूनी और स्वाभाविक अन्तर तक समझने में मजबूर हैं। उनकी इस ग़लत क़ानून साज़ी की बदौलत औरतों की ओर से अपने शौहरों के ख़िलाफ़ तलाक़ के दावों की इतनी अधिकता हो गयी कि इंग्लैंड की अदालतें उनसे परेशान हो गयीं और सन १९२८ ई. में लार्ड मरीवेल (Lord Merrivale) को उनकी रोक-थाम की ओर ध्यान दिलानी पड़ी।

यूरोप के जिन देशों में रोमन चर्च का अधिक प्रभाव है, वहां अब तक विवाह-संबंध न तोड़ने योग्य है। अलबत्ता कुछ शक्लों में क़ानूनी

अलगाव हो सकता है, जिसके बाद दोनों मियां-बीवी न मिल सकते हैं, न आज़ाद हो कर दूसरा निकाह कर सकते हैं। आयरलैंड और इटली के क़ानून इसी क़ायदे पर आधारित हैं।

फ्रांस में पारिवारिक क़ानून ने बहुत ऊंच-नीच देखा है। क्रान्ति के बाद तलाक़ को बहुत आसान कर दिया गया। निपोलियन के क़ानून (Code of Napolian) में उस पर कुछ पाबन्दियां लगा दी गईं। १८१६ ई० में उसको पूरी तरह वर्जित कर दिया गया। १८८४ ई० में फिर उसे जायज़ कर दिया गया। इसके बाद १८८६, १९०७ और १९२४ ई० में इसके लिए विभिन्न क़ानून बनाये गये, जिनके अनुसार तलाक़ के लिए निम्न कारण तय कर दिये गये हैं।

१. दम्पति में से किसी का ज़िना का शिकार होना,

२. ज़ालिमाना बर्ताव,

३. दोनों में से किसी एक का कोई ऐसा कार्य, जिससे उसके साथी की इज़्ज़त पर आंच आए,

४. दाम्पत्य हक़ अदा करने से इंकार,

५. शराब पीने की लत,

६, अदालत से कोई ऐसी सज़ा पाना जो रुसवाई की वजह हो।

इसके अलावा, अदालत से तलाक़ की डिग्री हासिल करने के बाद औरत के लिए तीन सौ दिन की इद्दत भी मुक़र्रर की गयी है, जो इस्लामी क़ानून की अधूरी पैरवी है।[1]

---

१. इद्दत का मूल उद्देश्य यह है कि एक मर्द से अलग होने के बाद और दूसरे मर्द की बीवी बनने से पहले इस बात का सन्तोष कर लिया जाए कि औरत गर्भवती नहीं है। इस उद्देश्य के लिए इस्लाम ने बिल्कुल स्वाभाविक शक्ल अपनायी है कि तीन बार माहवारी आने से इस बात का इत्मीनान हासिल हो जाता है, अलबत्ता अगर औरत गर्भवती हो, तो उसकी इद्दत बच्चा जनने

यूरोप के दूसरे देशों में तलाक़ के क़ानून एक-दूसरे से बहुत कुछ भिन्न हैं, पर अधूरे और असन्तुलित होने पर सब सहमत हैं।

जर्मनी में दम्पति में से किसी एक का दूसरे को छोड़ देना और उससे बेताल्लुक़ होकर रहना तलाक़ की वजह नहीं, जब तक कि वह कार्य लगातार एक साल तक जारी न रहा हो। यह ईला के क़ानून की एक धुंधली-सी छाया है। स्विट्ज़रलैंड में उसके लिए तीन साल की मुद्दत है और हालैंड में पांच साल की, दूसरे देशों में क़ानून इस बारे में ख़ामोश हैं।

लापता के लिए स्वीडन में छः साल इन्तिज़ार की मुद्दत है और हालैंड में दस साल। दूसरे देशों के क़ानून लापता के बारे में ख़ामोश हैं।

मजनूं या पागल के लिए जर्मनी, स्वीडन और स्विट्ज़रलैंड में तीन साल तक मोहलत है। बाक़ी किसी देश का क़ानून मजनूं के हक़ में कोई फ़ैसला नहीं करता।

बेल्जियम में तलाक़ शुदा के लिए दस महीने की इद्दत है। फ्रांस और बेल्जियम के सिवा कहीं औरत के दूसरे निकाह के लिए इन्तिज़ार की मुद्दत मुक़र्रर नहीं की गयी।

आस्ट्रिया में जोड़े में से किसी एक का पांच साल या उससे ज़्यादा की क़ैद की सज़ा पाना तलाक़ के दावे के लिए काफ़ी है। बेल्जियम में मात्र सज़ा याफ़्ता होना, औरत या मर्द को अपने साथी के ख़िलाफ़

तक है, चाहे बच्चा तलाक़ के दस दिन बाद ही जन दिया जाए। इसके मुक़ाबले में तीं सौ दिन या दस महीने की इद्दत के लिए कोई स्वाभाविक बुनियाद नहीं है।

तलाक़ की डिग्री हासिल करने का हक़दार बना देता है। स्वीडन और हालैंड में उसके लिए उम्र क़ैद की सज़ा है।

ये उन क़ौमों के क़ानून हैं, जो दुनिया में सबसे ज़्यादा प्रगतिशील समझे जाते हैं, पर उन पर एक गहरी नज़र डालने से मालूम हो जाता है कि उनमें से किसी को भी एक पूर्ण और सन्तुलित क़ानून बनाने में सफलता नहीं हुई। इनके मुक़ाबले में इस्लामी क़ानून को जो व्यक्ति इंसाफ़ की नज़र से देखेगा, उसको मानना पड़ेगा कि न्याय, सन्तुलन, मानव-स्वभाव की रियायत, फ़ित्नों का रास्ता रोकना, चरित्र की रक्षा, सांस्कृतिक हितों की निगरानी और दाम्पत्य जीवन के तमाम मामलों पर पूरे तौर पर हावी होने में इस्लामी क़ानून जिस कमाल को पहुंचा हुआ है, उसका सौवां हिस्सा भी पश्चिमी क़ानूनों को न केवल अलग-अलग, बल्कि सामूहिक रूप से भी नसीब नहीं हुआ, हालांकि ये क़ानून उन्नीसवीं सदी के 'रोशन' ज़माने में यूरोप के सैकड़ों, हज़ारों विद्वानों तथा बुद्धिजीवियों ने क़रीब-क़रीब एक सदी के सोच-विचार, छान-बीन और क़ानूनी तजुर्बों के बाद बनाये हैं और इस क़ानून को अब से साढ़े तेरह सौ वर्ष पहले अरब का एक उम्मी बादियानशीं पेश कर गया है, जिसने इस क़ानूनसाज़ी में किसी पार्लियामेंट, किसी कमीशन, विशेषज्ञों के किसी गिरोह से मश्विरा नहीं लिया।

इस स्पष्ट और शानदार अन्तर को देखने के बाद अगर कोई कहता है कि इस्लामी क़ानून ख़ुदा का नहीं, इंसान का बनाया हुआ है, तो हम कहेंगे कि ऐसे इंसान को तो ख़ुदाई का दावा करना चाहिए था, पर उसकी सच्चाई का इससे ज़्यादा खुला सबूत और क्या हो सकता है कि उसने ख़ुद ऐसे पराप्राकृत कारनामें का क्रेडिट नहीं लिया और साफ़-साफ़ कहा कि मैं अपने दिल व दिमाग़ से कुछ भी नहीं पेश कर सकता। जो कुछ मुझे ख़ुदा सिखाता है वही तुम तक पहुंचा देता हूँ।

फिर इस स्पष्ट और भारी अन्तर के बावजूद अगर इंसान अपनी ज़िंदगी के मामलों में हिदायतें इलाही की ज़रूरत से इंकार किये चला जाए और अपना हादी व शारेअ़ ख़ुद ही बनने पर आग्रह करता रहे, तो इसके अलावा कि उसके इस आग्रह को मूर्खता कहा जाए और क्या कहा जा सकता है ? उस व्यक्ति से बढ़ कर मूर्ख कौन होगा जिसके एक निःस्वार्थ और हितैषी रहनुमा सीधा रास्ता बताने के लिए मौजूद हो, पर वह कहे कि मैं तो ख़ुद ही रास्ता खोजा करूंगा और इस खोज में ख़ामख़ाही विभिन्न रास्तों पर भटकता फिरे।